संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ११

विद्यानन्दि-विरचिता

सत्यशासन-परीक्षा

पूर्व सम्पादक

पं० गोकुलचन्द जैन

अनुवादक

मुनि प्रणम्यसागर

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

सत्यशासनपरीक्षा

कृतिकार : आचार्य विद्यानन्दि
पूर्व सम्पादक : पं॰ गोकुलचन्द्र जैन
अनुवादक : मुनि प्रणम्यसागर
संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत्
आवृत्ति : २५४३) ११००
वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान
जैन विद्यापीठ
भाग्योदय तीर्थ, सागर (म॰ प्र॰) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२
ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक
विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स
प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म॰ प्र॰) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव

विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य विद्यानन्दि विरचित यह ग्रन्थ भारतीय दार्शनिक परम्परा में प्रवाहित समस्त दर्शनों का समुच्चय करके सत्य दर्शन की परीक्षा करने वाला अमूल्य ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ पूर्व में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित था, इसके सम्पादक पं० गोकुलचन्द्र जैन जी ने अथक परिश्रम किया और बहुपृष्ठीय प्रस्तावना भी लिखी थी तथापि मूल ग्रन्थ का शब्दशः हिन्दी अनुवाद उपलब्ध नहीं था जिससे पाठकों के लिए इस ग्रन्थ का हार्द समझ नहीं आ पाता था, इस कमी की पूर्ति मुनि श्री प्रणम्यसागरजी महाराज ने ग्रन्थ का अनुवाद करके की। एतदर्थ पूर्व प्रकाशन संस्था, सम्पादक अनुवादक एवं पुनः प्रकाशन में सहयोगी सभी सुधी जनों का आभार व्यक्त करते हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

मनोभाव

न्याय-ग्रन्थों की परम्परा में आचार्य समन्तभद्र, आचार्य अकलंकदेव के बाद आचार्य विद्यानन्दि का नाम स्मरणीय है। अपने समय अन्यमतीय विद्वानों के समक्ष जैनदर्शन को युक्ति और प्रमाण के साथ रखना एक बहुत ही विद्वत्तापूर्ण परिश्रमसाध्य कार्य रहा है। यद्यपि इस समय न्यायग्रन्थों का पठन-पाठन कुछ कम हो गया। इसका एक कारण मूल ग्रन्थों का सानुवाद प्रकाशन उपलब्ध नहीं होना भी है। वैसे तो न्याय की बहुलता वाले अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किन्तु कुछ ग्रन्थ ऐसे होते हैं जो सूत्र का भी कार्य करते हैं और गाइड का भी। 'सत्यशासन-परीक्षा' एक ऐसा ही ग्रन्थ है, जिसकी महती आवश्यकता आज के समय में है। अन्य मतों की क्या अवधारणाएँ हैं, उनका ज्ञान होना भी न्यायवेत्ता के लिए बहुत जरूरी है। विपक्ष के ज्ञान के बिना स्वपक्ष का मण्डन करना स्वपक्ष का व्यामोह होता है। इसलिए इस ग्रन्थ की शैली बहुत अच्छी है। पहले पूर्वपक्ष रखकर आचार्य विद्यानन्दिजी ने अन्यमत की धारणा को बताया है, फिर उसका सहेतुक खण्डन करके अनेकान्त धर्म की सिद्धि की है। इस तरह के वर्णन से अन्यमती के अन्दर द्वेषभावना भी जन्म नहीं लेती है और न ही वक्ता या लेखक के अन्दर। सभी शिक्षार्थियों को राग-द्वेष का परिहार करने के लिए ही न्याय पढ़ना बहुत आवश्यक है। इस ग्रन्थ में १. पुरुषाद्वैत-शासन-परीक्षा, २. शब्दाद्वैत-शासन-परीक्षा, ३. विज्ञानाद्वैत-शासन-परीक्षा, ४. चित्राद्वैत-शासन-परीक्षा, ५. चार्वाक-शासन-परीक्षा, ६. बौद्ध-शासन-परीक्षा, ७. सेश्वरसंख्य-शासन-परीक्षा, ८. निरीश्वरसंख्य-शासन-परीक्षा, ९. नैयायिक-शासन-परीक्षा, १०. वैशेषिक-शासन-परीक्षा, ११. भाट्ट-शासन-परीक्षा, १२. प्रभाकर-शासन-परीक्षा, १३. तत्त्वोपप्लव-शासन- परीक्षा, १४. अनेकान्त-शासन-परीक्षा।

इन सभी शासनों की परीक्षा की गई है और सत्यशासन को प्रतिष्ठापित किया गया है। षड्दर्शन का प्रारम्भिक ज्ञान करने वालों को यह ग्रन्थ कुंजी के रूप में हितकारी है।

इस ग्रन्थ की महत्ता के सम्बन्ध में पंडित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य लिखते हैं-''तर्कग्रन्थों के अभ्यासी विद्यानन्दि के अतुल पाण्डित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराई के साथ किये जाने वाले पदार्थों के स्पष्टीकरण एवं प्रसन्न भाषा में गूँथे गये युक्तिजाल से परिचित होंगे। उनके प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा और आप्तपरीक्षा प्रकरण अपने-अपने विषय के बेजोड़ निबन्ध हैं। ये ही निबन्ध तथा विद्यानन्दि के अन्य ग्रन्थ आगे बने हुए समस्त दिगम्बर, श्वेताम्बर न्यायग्रन्थों के आधारभूत हैं। इनके ही विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दिगम्बर, श्वेताम्बर न्यायग्रन्थों पर अपनी अमिट छाप लगाये हुए हैं। यदि जैन-न्याय के कोषागार से विद्यानन्दि के ग्रन्थों को अलग कर दिया

जाये, तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायेगा। उनकी यह सत्यशासन-परीक्षा ऐसा एक तेजोमय रत्न हैं, जिससे जैन-न्याय का आकाश दमदमा उठेगा। यद्यपि इसमें आये हुए पदार्थ फुटकर रूप से उनके अष्टसहस्त्री आदि ग्रन्थों में खोजे जा सकते हैं, पर इतना सुन्दर और व्यवस्थित तथा अनेक नये प्रमेयों का सुरुचिपूर्ण संकलन, जिसे स्वयं विद्यानन्दि ने ही किया है, अन्यत्र मिलना असम्भव है।''

इस ग्रन्थ का सम्पादन मूल संस्कृत के साथ उपलब्ध था, उसी को आधार बनाकर हिन्दी अनुवाद का कार्य किया है। पूर्व सम्पादक पं० गोकुलचन्दजी द्वारा लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता का परिचय यथावत् निबद्ध किया गया है। पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की कृपा से इस कार्य को करने का साहस कर पाया हूँ। इत्यलम्।

२५ अक्टूबर, २०१४
भीण्डर वर्षायोग

-मुनि प्रणम्यसागर

ग्रन्थकार-परिचय

विद्यानन्दि और उनका युग

विद्यानन्दि ने अपने विषय में कहीं कोई स्पष्ट जानकारी नहीं दी। उनके शास्त्रों का अन्तःपरिशीलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि–

आचार्य विद्यानन्दि का आविर्भाव भारतीय दर्शनों के उस स्वर्ण-काल में हुआ था जब न्यायशास्त्र अपने पूर्ण यौवन की उत्ताल-तरंगों में मदमाता झूम रहा था। न्यायशास्त्र की अनेक मान्यताएँ स्थिर हो चुकी थीं। शास्त्रकारों का उद्देश्य स्पष्ट हो गया था तथा पूर्वाचार्यों ने प्रगति की एक लम्बी मंजिल तय कर ली थी।

विद्यानन्दि ने पाया कि वैदिक, बौद्ध और जैनन्याय के परस्पर तार्किक घात-प्रतिघात से मँजकर प्रत्येक दर्शन के अनेक सिद्धान्त स्थिर, निश्चित और सुव्यवस्थित हो गये हैं। जैनदर्शन के जो मूल्य आगमों में निर्धारित किये गये थे; उनका दोहन करके गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में उनका संकलन किया था। समन्तभद्र और सिद्धसेन ने शुद्ध तार्किक शैली में उनकी प्रतिष्ठा करने का सूत्रपात किया। उधर दिग्नाग ने बौद्ध चिन्तन की ऐसी सुदृढ़ पृष्ठभूमि तैयार की, जिस पर धर्मकीर्ति ने बौद्ध न्याय के महाप्रासाद का निर्माण किया। कणाद, जैमिनी, अक्षपाद, वात्स्यायन तथा प्रशस्तपाद के क्रमिक चिन्तन से एक ऐसे धरातल की रचना हुई कि मीमांसक धुरीण कुमारिल ने आते ही दार्शनिक-जगत् में धूम मचा दी। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में तथा कुमारिल ने मीमांसा-श्लोकवार्तिक में सिद्धान्तों का पारस्परिक खूब खंडन-मंडन किया। जब अकलंक का उदय हुआ, उन्हें जैनन्याय के सितारे डूबते से दृष्टिगोचार हुए, किन्तु उन्होंने धर्मकीर्ति और कुमारिल का सामना करने के लिए जिस उन्नत सुमेरु का निर्माण किया, उसकी पृष्ठभूमि में आगमिक मूल्यों से लेकर उमास्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि सभी आलोकित हो उठे। इस पूर्वाचार्यों के चिन्तन को पल्लवित और पुष्पित करने वाले अकलंक जैनन्याय के प्रस्थापक आचार्य सम्राट् बन गये। धर्मकीर्ति और कुमारिल के खण्डन का सयुक्तिक उत्तर देकर अकलंक ने जैनन्याय को भारतीय न्यायशास्त्र के इतिहास में मूर्धन्य बना दिया।

अकलंक-न्याय को सम्पूर्णरूप में आत्मसात् करने वाले आचार्य विद्यानन्दि को चिन्तन का एक अपूर्व भाण्डागार विरासत में मिला। कुन्दकुन्द और उमास्वामी का विशुद्ध तत्त्वज्ञान, समन्तभद्र और सिद्धसेन की प्रसन्न तर्कशैली तथा भट्ट अकलंक का अपराजेय पाण्डित्य विद्यानन्दि को पैतृक सम्पत्ति की धरोहर की तरह प्राप्त हुए। अपनी तलस्पर्शिनी प्रज्ञा के बल पर सुयोग्य उत्तराधिकारी की तरह एक-एक कण की सुरक्षा के लिए विद्यानन्दि ने एक ऐसे महाप्राकार का निर्माण किया, जिसके सिंहद्वार के सामने पहुँचते ही अभिमानी का मान चूर-चूर हो जाये।

विद्यानन्दि अकलंक के साक्षात् शिष्य रहे हों या नहीं, किन्तु उन्हें अकलंक की जो विरासत

मिली उससे वे अकलंक के उत्तराधिकारी अवश्य बन गये। अकलंक का समस्त चिन्तन, भाव, भाषा और शैली विद्यानन्दि की उपजीव्य बन गयी।

अकलंक को बौद्ध दार्शनिकों का सामना करने में अत्यधिक आयास करना पड़ा था, किन्तु उस आयास के प्रतिघात से बौद्धन्याय को ऐसा धक्का लगा कि कम से कम वह विद्यानन्दि के सामने तो मुँह नहीं ही उठा सका। यही कारण है कि अकलंक के ग्रन्थों में बौद्ध सिद्धान्तों का जितना खण्डन है, उतना विद्यानन्दि के ग्रन्थों में नहीं।

विद्यानन्दि को सम्भवतया धर्मकीर्ति के शिष्यों की अपेक्षा कुमारिल के उत्तराधिकारियों से अधिक निपटना पड़ा; यही कारण है कि विद्यानन्दि का शास्त्रमीमांसा और वैशेषिक सिद्धान्तों के खण्डन से भरा पड़ा है। इतना होने के बाद भी सम्भवतया विद्यानन्दि को परवादियों का उतना मुकाबला नहीं करना पड़ा जितना अकलंक को करना पड़ा था; इसी कारण अकलंक के द्वारा प्रस्थापित प्रमेयों को विस्तार के साथ समझाने का उन्हें पर्याप्त अवसर प्राप्त हो गया। अकलंक के एक-एक शब्द को विद्यानन्दि ने अपनी प्रज्ञा के प्रकाश से ऐसा आलोकित कर दिया कि युगों-युगों तक वह आकाश-दीप का काम करता रहे।

जिस युग में विद्यानन्दि का आविर्भाव हुआ, उस युग में शास्त्र-रचना की एक विशेष शैली निश्चित हो चुकी थी। किसी भी अन्य दर्शन के सिद्धान्त को पूर्वपक्ष के रूप में अपने ग्रन्थ में प्रस्थापित करके उत्तरपक्ष में उसका खण्डन करना तथा तत्पश्चात् स्व-सिद्धान्त का स्थापन करना। शास्त्र-रचना की इस पद्धति ने दार्शनिक असहिष्णुता के उस युग में भी शास्त्रकार को अन्यान्य दर्शनों का अध्ययन करना अनिवार्य बना दिया था। इस अनिवार्यता का भी विद्यानन्दि के व्यक्तित्व निर्माण में उतना ही महत्त्वपूर्ण योगदान मानना चाहिए जितना अकलंक की धरोहर का।

विद्यानन्दि ने अपने युग की इस अनिवार्य आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक दर्शन के मूल ग्रन्थों का अन्तःप्रविष्ट अध्ययन किया और उनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों के लचीलेपन को सामने लाकर उस पर तर्क का भयंकर वज्र-प्रहार किया।

विपुल विमल प्रज्ञा के धनी इस महान् दार्शनिक का चिन्तन अपने युग पर सहस्ररश्मि के प्रकाश की तरह ऐसा छा गया कि भारतीय चिन्तन के इतिहास से उसे ओझल करने की कल्पना-मात्र से भी सम्पूर्ण ज्ञानाकाश तिमिराच्छन्न-सा होने लगता है।

२. विद्यानन्दि का समय

आचार्य विद्यानन्दि ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने समय का निर्देश नहीं किया इसलिए उनके ग्रन्थों के अन्तःपरीक्षण तथा अन्य पूर्वोत्तर आचार्यों के उल्लेखों के आधार पर उनके समय का निर्णय किया जाता है। आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना में पं० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य ने इस तरह से सुन्दर विचार किया है, उसी का सार नीचे प्रस्तुत किया जाता है–

पूर्वावधि

१. न्यायसूत्र पर लिखे गये वात्स्यायन (ई० ३-४ शती) के न्यायभाष्य और न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य पर रचे गये उद्योतकर के न्यायवार्तिक का तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २०५,२०६, २८३, ३०९) में नामोल्लेखपूर्वक तथा बिना नाम के सविस्तार समालोचन किया है। उद्योतकर का समय ६०० ई० माना जाता है, इसलिए विद्यानन्दि ६०० ई० के पूर्ववर्ती नहीं हो सकते।

२. विद्यानन्दि ने जैमिनि, शवर, कुमारिलभट्ट और प्रभाकर के सिद्धान्तों का अपने ग्रन्थों में खण्डन किया है। कुमारिल तथा प्रभाकर का समय ईसा की सातवीं शताब्दी (ई० ६२५ से ६८०) है। अत: विद्यानन्दि ६८० ई० के पश्चाद्वर्ती हैं।

३. विद्यानन्दि ने कणाद के वैशेषिक सूत्र तथा उस पर लिखे गये प्रशस्तपादभाष्य तथा प्रशस्तपादभाष्य पर रची गयी व्योमशिवाचार्य की टीका का आप्तपरीक्षा (पृ० २४, २५, १०६, १०७, १४९) में खण्डन किया है। व्योमशिवाचार्य का समय ई० सातवीं शती का उत्तरार्ध (६५० से ७०० ई०) माना जाता है, अत: विद्यानन्दि ७०० ई० के पूर्ववर्ती नहीं हो सकते।

४. धर्मकीर्ति और उनके अनुगामी प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तर का अष्टसहस्री (पृ० ८१, १२२, २७८) प्रमाणपरीक्षा (पृ० ५३) में खण्डन किया है। धर्मोत्तर का समय ई० ७२५ माना जाता है, अत: विद्यानन्दि ७२५ ई० के पश्चाद्वर्ती हैं।

५. अष्टसहस्री (पृ० १८) में मण्डनमिश्र का नामोल्लेखपूर्वक तथा श्लोकवार्तिक (पृ० २४) और सत्यशासन-परीक्षा (पुरुषा० १९) में उनकी ब्रह्मसिद्धि की ''आहुर्विधातृप्रत्यक्षम्'' कारिका को उद्धृत किया है।

शंकराचार्य के प्रधान शिष्य सूरेश्वर के बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक (३-५) से अष्टसहस्री (पृ० ९३, १६१) में पद्य उद्धृत किये हैं। मण्डनमिश्र का समय ई० ६७० से ७२० तक और सूरेश्वर का समय ई० ७८८ से ८२० तक समझा जाता है।

विद्यानन्दि के ग्रन्थों में सूरेश्वर से उत्तरवर्ती किसी भी ग्रन्थ का ग्रन्थकार का उल्लेख नहीं है। अतएव ८२० ई० विद्यानन्दि की पूर्वावधि मानना चाहिए।

उत्तरावधि

६. वादिदेवसूरि ने अपने पार्श्वनाथचरित (श्लो० २८) और न्यायविनिश्चयविवरण (प्रशस्ति २) में आचार्य विद्यानन्दि की स्तुति की है। वादिदेव का समय ई० सन् १०२५ सुनिश्चित है, अत: विद्यानन्दि १०२५ ई० के पूर्ववर्ती हैं।

७. प्रशस्तपादभाष्य पर चार टीकाएँ हैं जिनमें से विद्यानन्दि ने केवल प्रथम का खण्डन किया है अन्य का नहीं। चौथी टीका लक्षणावली उदयन ने सन् ९८४ में बनायी, अत: विद्यानन्दि इसके पूर्ववर्ती हैं।

८. उद्योतकर के न्यायवार्तिक पर वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका है। विद्यानन्दि ने उद्योतकर का तो खण्डन किया, किन्तु वाचस्पति मिश्र का नहीं। वाचस्पति का समय ई० ८४१ है। अतः विद्यानन्दि उसके पूर्ववर्ती है।

इस तरह अन्तरंग परीक्षण–द्वारा विद्यानन्दि का समय ई० ७७५ से ८४० तक निश्चित होता है। इस समय की पुष्टि में और प्रमाण भी विद्यमान हैं–

९. विद्यानन्दि अकलंक के सर्वप्रथम टीकाकार हैं। अकलंक का समय न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जी ने विशेष ऊहापोह के बाद ई० ७२०–७८० निश्चित किया है, अतः विद्यानन्दि इसके उत्तरवर्ती हैं।

१०. अष्टसहस्री की प्रशस्ति में विद्यानन्दि ने कुमारसेन का उल्लेख किया है। कुमार सेन ई० ७८३ के विद्वान् हैं, अतः विद्यानन्दि उसके बाद के हैं।

११. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी प्रशस्ति में निम्न पद्य आया है–

> **''जीयात्सज्जनताऽऽश्रयः शिव–सुधाधारावधानप्रभुः,**
> **ध्वस्तध्वान्ततति: समुन्नतगतिस्तीव्रप्रतापान्वितः।**
> **प्रोर्जज्योतिरिवावगाहनकृतानन्तस्थितिर्मानतः ,**
> **सन्मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिलमलप्रज्वालनप्रक्षमः॥''**

प्रस्तुत पद्य में विद्यानन्दि ने श्लेष से शिवमार्ग–मोक्षमार्ग तथा शिवमार द्वितीय का यशोगान किया है। शिवमार द्वितीय गंगवंशी श्रीपुरुष नरेश का उत्तराधिकारी तथा उसका पुत्र था जो ई० ८१० के लगभग राज्य का अधिकारी हुआ। इसने श्रवणबेलगोल की छोटी पहाड़ी पर एक बसदि बनवायी थी, जिसका नाम ''शिवमारन बसदि'' था। चन्द्रनाथ स्वामी बसदि के निकट एक चट्टान पर कनड़ी भाषा में ''शिवमारन बसदि'' यह अभिलेख अंकित है। इस अभिलेख का समय भाषालिपि की दृष्टि से लगभग ८१० माना गया है। शिवमार ने कुम्मडवाड में भी एक बसदि बनवायी थी।[३] इन प्रसंगों से ज्ञात होता है कि शिवमार द्वितीय अपने पिता श्रीपुरुष की ही तरह जैनधर्म का उत्कट समर्थक एवं प्रभावक था। विद्यानन्दि ने श्लोकवार्तिक की रचना इसी काल में की होगी।

१२. इस शिवमार का भतीजा और विजयादित्य का लड़का राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम शिवमार के राज्य का उत्तराधिकारी हुआ तथा ई० सन् ८१६ के आसपास राजगद्दी पर बैठा। विद्यानन्दि ने अपने अन्य ग्रन्थों में इसका भी उल्लेख किया है–

[क] ''स्थेयाज्जातजयध्वजाप्रतिनिधिः प्रोद्भूतभूरिप्रभुः,
प्रध्वस्ताखिल–दुर्नय–द्विषदिभिः सन्नीतिसामर्थ्यतः।
सन्मार्गस्त्रिविधः कुमार्गमथनोऽर्हन् वीरनाथः श्रिये,
शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधियाँ **श्रीसत्यवाक्याधिपः**॥''

[ख] ''प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगै–

विद्यानन्दबुधैरलङ् कृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः॥''

[ग] ''जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः।
श्रीसत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दाः जिनेश्वराः॥''

[घ] ''विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै।''

उक्त प्रमाणों के आधार पर विद्यानन्दि का समय ई॰ ७७५ से ८४० प्रमाणित होता है।

३. विद्यानन्दि की रचनाएँ—

अब तक विद्यानन्दि के निम्नलिखित ग्रन्थों का परिचय प्राप्त हुआ है।

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र पर कुमारिल के मीमांसाश्लोक-वार्तिक और धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की तरह विद्यानन्दि ने पद्यात्मक तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक रचा और उस पर गद्यात्मक भाष्य लिखा। यह भाष्य तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य, तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिकव्याख्यान, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार और श्लोकवार्तिकभाष्य नामों से प्रसिद्ध है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैन सिद्धान्त और दार्शनिक मन्तव्यों का प्रामाणिक विश्लेषण करने वाला उत्कृष्ट कोटि का ग्रन्थ है। विद्यानन्दि ने इसकी रचना करके कुमारिल और धर्मकीर्ति जैसे धुरंधर तार्किकों द्वारा जैनदर्शन पर किये गये आक्षेपों का सुयुक्तिक उत्तर दिया तथा जैनचिन्तन को तर्क की कसौटी पर कसकर सिद्धान्तशास्त्र को न्यायशास्त्र की कोटि में ला दिया।

इस महान् ग्रन्थ का प्रकाशन सर्वप्रथम सेठ रामचन्द्र नाथारङ्गजी-द्वारा सन् १९१८ में हुआ था, उसके बाद कुन्थुसागर जैन ग्रन्थमाला से पं॰ माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्यकृत हिन्दी अनुवाद सहित कई भागों में प्रकाशित हो रहा है। निःसंदेह न्याय के ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद अत्यन्त कठिन कार्य है। इस दृष्टि से अनुवादक अभिनन्दनीय है; किन्तु यदि मूल ग्रन्थ का संशोधन सम्यक् प्रकार से हो जाता तो सोने में सुगन्ध का काम होता।

२. अष्टसहस्री या देवागमालङ्कार—यह समन्तभद्र विरचित 'आप्तमीमांसा' अपर नाम 'देवागमस्तोत्र' पर लिखा गया विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण भाष्य है। विद्यानन्दि ने अत्यन्त कुशलता के साथ अकलंक की अष्टशती को अष्टसहस्री में अन्तःप्रविष्ट करके 'आप्तमीमांसा' की प्रत्येक कारिका का व्याख्यान किया है।

अष्टसहस्री न्याय की प्राञ्जल भाषा में लिखा गया अत्यन्त दुरूह और जटिल ग्रन्थ है। स्वयं विद्यानन्दि ने इसे 'कष्टसहस्री' कहा है। अकलंक की अष्टशती के प्रत्येक पद का हार्द विद्यानन्दि की अष्टसहस्री के बिना नहीं समझा जा सकता। मेरा तो यहाँ तक विचार है कि समन्तभद्र को समझने के लिए भी विद्यानन्दि के शास्त्रों का सूक्ष्म अभ्यास आवश्यक है।

अष्टसहस्री में 'आप्तमीमांसा' तथा 'अष्टशती' में चर्चित विषयों के अतिरिक्त भी अनेक नये विषयों का विवेचन किया है। विद्यानन्दि की यह उक्ति केवल गर्वोक्ति नहीं है कि—

' श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव हि स्वसमय-परसमयसद्भावः॥''

अर्थात् हजार शास्त्रों को सुनने से क्या, अकेली अष्टसहस्री को सुन लेने से स्व-सिद्धान्त और पर-सिद्धान्तों का ज्ञान हो जायेगा।

अष्टसहस्री का प्रकाशन सन् १९१५ में सेठ नाथारङ्गजी गाँधी द्वारा किया गया था। वर्तमान में ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। इसका सुसम्पादित नवीन संस्करण नितान्त आवश्यक है।

अष्टसहस्री पर लघु समन्तभद्र (वि० की १३ वीं शती) की ''अष्टसहस्री विषमपद तात्पर्य टीका'' तथा यशोविजय (वि० की १७ वीं शती) की ''अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण'' नामक व्याख्याएँ हैं।

३. युक्त्यनुशासनालंकार—यह आप्तमीमांसाकार समन्तभद्र के द्वितीय ग्रन्थ युक्त्यनुशासन पर विद्यानन्दि की विशद टीका है। इसीलिए इसके युक्त्यनुशासनालंकार तथा युक्त्यनुशासनटीका ये दो नाम प्रसिद्ध है।

युक्त्यनुशासन ६४ पद्यों का एक संक्षिप्त स्तोत्र है; परन्तु जैसा कि पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य ने लिखा है, इसका प्रत्येक पद्य इतना दुरूह और गम्भीर है कि प्रत्येक के व्याख्यान में एक-एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना हो सकती है। विद्यानन्दि ने अपनी व्याख्या में इन्हीं पद्यों का संक्षेप में रहस्योद्घाटन किया है। युक्त्यनुशासनालङ्कार का प्रकाशन वि० सं० १९७७ में ''माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला'' से हुआ था, किन्तु अब अप्राप्य है।

४. विद्यानन्दिमहोदय—यह ग्रन्थ अनेक प्रयत्नों के बाद भी अब तक उपलब्ध नहीं हो सका। स्वयं विद्यानन्दि तथा अन्य आचार्यों के उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह विशालकाय एवं बहुविषय चर्चित अपूर्व ग्रन्थ होना चाहिए। स्वयं विद्यानन्दि ने श्लोकवार्तिक तथा अष्टसहस्री-जैसे विशालकाय ग्रन्थों में चर्चित कई विषयों का विस्तार के साथ ''विद्यानन्दि-महोदय'' में देखने का परामर्श दिया है। वादिदेवसूरि ने विद्यानन्दि महोदय की निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की हैं- **''महोदये च ''कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः प्रतीयते'' इति वदन् (विद्यानन्दः) संस्कारधारणायो-रैकार्थ्यमचकथत्।''**

इस महान् ग्रन्थ के प्राप्त होने की आशा और प्रयत्न रखना चाहिए।

५. आप्तपरीक्षा—आप्तपरीक्षा में, जैसा कि इसके नाम से प्रकट है 'आप्त' की परीक्षा की गयी है। न्याय की शैली में समन्तभद्र की आप्तमीमांसा के बाद यह पहला मौलिक ग्रन्थ है, जिसमें नैयायिकादिसम्मत ईश्वर, सांख्यभिमत कपिल, बौद्धाभिमत सुगत, अद्वैत के परमपुरुष एवं जैनों के अर्हन्त की परीक्षा करके उनमें से सच्चे 'आप्त' को सिद्ध किया गया है।

आप्तपरीक्षा की मूल प्रेरणा आप्तमीमांसा तथा रचना का आधार निम्न पद्य है-

''मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥''

इस पद्य की निश्चल भूमिका पर आप्तपरीक्षा का विशाल प्रासाद निर्मित हुआ है।

आप्तपरीक्षा सर्वप्रथम पत्रपरीक्षा के साथ 'सनातन जैन ग्रन्थमाला' में १९१३ में प्रकाशित हुई थी; इसके बाद सन् १९३० में जैन-साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई से केवल आप्तपरीक्षा का पुनः मुद्रण हुआ। पुनः सन् १९४१ में 'वीरसेवामन्दिर' से पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य-द्वारा सुसम्पादित होकर महत्त्वपूर्व प्रस्तावना आदि तथा हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुई। विद्यानन्दि के सभी ग्रन्थों के ऐसे प्रामाणिक एवं सर्वोपयोगी संस्करण अपेक्षित हैं।

६. प्रमाणपरीक्षा—जैसा कि इस ग्रन्थ के नाम से प्रकट है, इसमें प्रमाण की परीक्षा की गयी है। प्रमाण का ''सम्यग्ज्ञानत्व'' लक्षण करके उसके भेद, प्रभेद, विषय, फल तथा हेतुओं की विस्तृत एवं सुसम्बद्ध रचना की गयी है। हेतु-भेदों के निदर्शक कुछ महत्त्वपूर्ण संग्रह श्लोकों को भी उद्धृत किया गया है जो किन्हीं पूर्ववर्ती जैनाचार्यों के प्रतीत होते हैं। विद्यानन्दि ने इसकी रचना अकलंकदेव के प्रमाणसंग्रह आदि ग्रन्थों से प्रेरणा एवं पृष्ठभूमि लेकर की होगी।

प्रमाणपरीक्षा सन् १९१४ में 'सनातन जैन ग्रन्थमाला' से आप्तमीमांसा के साथ मुद्रित हुई थी। इसका हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा की तरह सुसम्पादित संस्करण अपेक्षित है।

७. पत्रपरीक्षा—इस ग्रन्थ में पत्रलक्षणों की समीक्षा की गयी है तथा जैनदृष्टि से पत्र का परिष्कृत लक्षण दिया गया है। पत्रपरीक्षा में विद्यानन्दि ने प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमान के अंग बताये हैं। प्रतिपाद्याशयानुरोध से दशावयवों का भी समर्थन किया गया है, किन्तु ये दशावयव न्यायदर्शन में प्रसिद्ध दशावयवों से भिन्न हैं। विद्यानन्दि की तर्कप्रधान रचनाओं में यह सबसे अधिक लघुकाय है। इसका प्रकाशन 'सनातन जैन ग्रन्थमाला' बनारस से सन् १९१३ में आप्तपरीक्षा के साथ हुआ था।

८. सत्यशासनपरीक्षा—प्रस्तुत ग्रन्थ।

९. श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आप्तमीमांसा या देवागमस्तोत्र की शैली में लिखा गया यह एक ३० पद्यों का स्तोत्र है। देवागमस्तोत्र की तरह ही दुरूह और जटिल भी है।

इस स्तोत्र का विषय श्रीपुरस्थ भगवान पार्श्वनाथ की स्तुति है। कपिल आदि में अनाप्तता बतलाकर पार्श्वनाथ में आप्तता सिद्ध की गयी है और उनके वीतरागत्व, सर्वज्ञत्व और मोक्षमार्ग-प्रणेतृत्व की स्तुति की गयी है।

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र 'वीरसेवामन्दिर' से पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य-द्वारा सम्पादित और अनुवादित होकर सन् १९४९ में प्रकाशित हुआ है। इसके पूर्व सन् १९२१ में मराठी टीका सहित श्री पात्रकेसरीस्तोत्र के साथ प्रकाशित हुआ था।

पं० गोकुलचन्द्र जैन

विषयानुक्रम

विद्यानन्दि-विरचिता

सत्यशासन-परीक्षा

विद्यानन्दाधिपः स्वामी विद्वद्देवो जिनेश्वरः।
यो लोकैकहितस्तस्मै नमस्तात् स्वात्मलब्धये॥१॥

१. अथ सत्यशासनपरीक्षा। इयमेव परीक्षा यः ''अस्येदमुपपद्यते न वा'' इति विचारः। सा च शासनस्य सत्यत्व एवोपपद्यते, तत्रैव विवादात्, वक्तुराप्तत्ववत्। न तु शासनत्वमात्रे, तदभावात्, वक्तृत्वमात्रवत्।

२. इह हि पुरुषाद्वैत-शब्दाद्वैत-विज्ञानाद्वैत-चित्राद्वैत-शासनानि, चार्वाक-बौद्ध-सेश्वर-निरीश्वर-सांख्य-नैयायिक-वैशेषिक-भाट्ट-प्राभाकरशासनानि, तत्त्वोपप्लवशासनम् अनेकान्तशासनं चेत्यनेक-शासनानि प्रवर्तन्ते। न च सर्वाण्यपि तानि सत्यानि भवन्ति, द्वैताद्वैत-भावाभावादि-परस्पर-विरुद्धार्थ-प्रतिपादनात्। न च तत्र न किंचिदपि सत्यं स्यादित्यारेकितव्यम्; एकान्तानेकान्तयोः द्वैताद्वैतयोर्भावाभावयोर्वा तेजस्तिमिरयोरिव परस्परं विप्रतिषिद्धयोः द्वयोरपि विधिवत् प्रतिषेधस्याप्यसंभवेन अन्यतरस्य नियमेन विधेरुपपत्तेः कस्यचित्सत्यस्यावश्यमभ्युपगन्तव्यत्वात्।

केवलज्ञानरूपी विद्या और अनन्त आनन्द (सुख) के स्वामी, विद्वानों से पूज्य जिनेश्वर हैं, जो कि इस संसार के एक मात्र हितैषी हैं। उन जिनेश्वर को अपनी आत्मा की प्राप्ति के लिए नमस्कार हो।

१. अब सत्यशासनपरीक्षा कहते हैं–

''यह धर्म इस पदार्थ का है अथवा नहीं है'' इस प्रकार का विचार ही यह परीक्षा है। वह परीक्षा शासन की सत्यता में ही प्राप्त होती है। उस शासन की सत्यता में ही विवाद है, जैसे किसी भी वक्ता के आप्तपने में विरोध है। शासन (मत) मात्र हो जाने से भी सत्यपना नहीं हो जाता है जैसे कि वक्तृत्व (बोलने) मात्र से अर्थात् जो कहा गया है वह सब सत्य नहीं होता है।

२. इस संसार में पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत शासन हैं। चार्वाक, बौद्ध, सेश्वर (ईश्वरसहित), निरीश्वर, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, भाट्ट और प्राभाकर के शासन (मत) हैं। तत्त्वोप्लव शासन है, अनेकान्त शासन है। इत्यादि अनेक शासन हैं। ये सभी शासन सत्य नहीं हैं। क्योंकि इनमें द्वैत, अद्वैत, भाव, अभाव आदि शासन तो परस्पर में विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इनमें कुछ भी सत्य नहीं है, इस प्रकार की शंका नहीं करना चाहिए। एकान्त-अनेकान्त में, द्वैत-अद्वैत में या भाव-अभाव में प्रकाश-अन्धकार के समान दोनों में परस्पर विरोध होने पर भी विधि (विधेय धर्म) की तरह प्रतिषेध की भी असंभावना होने से किसी एक धर्म की तो नियम से स्वीकारता की प्राप्ति होती है, क्योंकि किसी एक के तो सत्यपना अवश्य ही स्वीकारा जाता है।

३. तथा च तत्र किं नु खलु शासनं स्यात्सत्यमिति परीक्ष्यते–इदमेव हि सत्यशासनस्य सत्यत्वं नाम यद्दृष्टेष्टाविरुद्धत्वम्। प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणविरुद्धस्यापि सत्यत्वे न किंचिदसत्यं जगति स्यात्। तदविरुद्धस्याप्यसत्यत्वे किमपि न सत्यं स्यात्। अतोऽव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवासंभवाददुष्टमिदं सत्यलक्षण-मुपलक्ष्यते।

४. तच्च दृष्टेष्टाविरुद्धत्वमनेकान्तशासने एवेति तदेव सत्यशासनधवीमारोढुमीष्टे एकान्तशासनं तु सर्वमसत्यमेव, दृष्टेष्टविरुद्धत्वात्। तथाहि–

१. [परब्रह्माद्वैतशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्षः]

५.तावत्परब्रह्माद्वैतं दृष्टेष्टविरुद्धमेव। इदं हि ब्रह्मवादिमतम्–देशकालाकाराव्यवच्छिन्ननिर्व्यभिचार-सकलावस्थाव्यापि-प्रतिभासमात्रम् अखण्डज्ञानानन्दामृतमयं परब्रह्मैकमेवास्ति न तु द्वितीयम्। ''एकमेवा-द्वितीयं ब्रह्म'' [छान्दो० ६/२/१] इत्याद्याम्नायात्।

६. कथमेकमेव परब्रह्मास्ति, परस्परं भिन्नानां नानात्मनां प्रतीतेरिति चेत्, न, एकस्यापि तस्य भूते भूते

---

३. तो उनमें कौन सा शासन वास्तव में सत्य है, यह परीक्षा की जाती है। वह ही सत्यशासन की सत्यता है जो दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (परोक्ष) प्रमाण से अविरुद्ध होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान आदि प्रमाणों से विरुद्ध पदार्थों के भी सत्यता यदि होवे तो इस संसार में फिर कुछ भी असत्य होगा ही नहीं। इन प्रमाणों से अविरुद्ध (सिद्ध) पदार्थ में भी यदि असत्यता होवे तो भी इस संसार में कुछ भी सत्य नहीं होगा। इसलिए अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषों की संभावना नहीं होने से सत्य का यह लक्षण निर्दोष सिद्ध होता है।

४. और वह सत्य का लक्षण प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से अविरुद्धपना तो अनेकान्तशासन में ही हैं। इसलिये ही सत्यशासन की नसैनी पर चढ़ने की इच्छा करते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण एकान्त शासन तो सभी असत्य ही हैं। स्पष्ट कथन इस प्रकार है–

[पर ब्रह्म अद्वैत शासन की परीक्षा]

[पूर्वपक्ष]

५. सर्वप्रथम पर ब्रह्म अद्वैत शासन प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाण से विरुद्ध ही है।

ब्रह्मवादियों का मत इस प्रकार है–देश, काल, आकार से निरन्तर बने रहने वाला, व्यभिचार रहित, समस्त अवस्थाओं में व्याप्त, प्रतिभासमात्र और अखण्ड ज्ञानानन्द अमृत मय वह उत्कृष्ट ब्रह्म एक ही है, दूसरा नहीं है। **''एक ही अद्वितीय ब्रह्म है''।** (छान्दो./६/२/१) इस प्रकार इत्यादि वचन आम्नाय में मौजूद होने से।

६. शंका–जब परस्पर में अनेक प्रकार के भिन्न (घट, पट आदि) पदार्थों की प्रतीति होती है तो फिर एक ही पर ब्रह्म है यह कैसे संभव है?

व्यवस्थितस्य जलेषु चन्द्रवत् अनेकधा प्रतिभाससंभवात्। तदुक्तम्–

''एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥''

[अमृतवि० उप० प० १२ पृ० १५] इति

७. तथा पृथिव्यादयोऽपि न ततस्तत्त्वान्तराणि, तद्विवर्तत्वात्। तच्चोच्चावचचराचररूपप्रपञ्चस्यास्य तत एव जन्मादिभावात्। तथैवोक्तं भगवता बादरायणेन–''जन्माद्यस्य यतः'' [ब्रह्मसू० १/१/२] इति।

८. अथ कथं प्रपञ्चाध्यवसायविध्वंसनकरात् परमपुरुषात्प्रपञ्चस्य जन्मादीति चेत्; न; अनाद्य-विद्यासचिवादेव तस्मात्तस्य भावात्।

९. अविद्या तर्हि द्वितीया स्यादिति चेत्; तदसत्; तस्याः सदसत्त्वविचाराभ्यां प्रमाणपदवी-मविगाह-मानायाः, अनिर्वाच्यत्वात्। तदुक्तम्–

''अनिर्वाच्याऽविद्या-द्वितय-सचिवस्य प्रभवतो
विवर्ता यस्यैते वियदनिलतेजोऽवनयः।
यतश्चाभूद् विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं

समाधान—ऐसा नहीं है, एक ही वह ब्रह्म प्रत्येक पदार्थ में स्थित होता हुआ जल में चन्द्रमा की तरह अनेक प्रकार का प्रतिभासित होता है। जैसा कि कहा है–''एक ही वह ब्रह्मात्मा प्रत्येक भूत (चर-अचर) पदार्थ में स्थित है। वह ब्रह्म एक प्रकार का होकर भी जल में चन्द्रमा के समान अनेक प्रकार का दिखाई देता है।'' (अमृतवि० प० प० १२/पृ० १५)

७. इसलिए ही ये पृथ्वी आदि भी उस ब्रह्म से कोई भिन्न तत्त्व नहीं हैं क्योंकि ये सभी उस एक ब्रह्म के ही विवर्त (पर्याय) हैं। छोटा-बड़ा, चराचर रूप प्रपञ्च का यह विस्तार इसी परब्रह्म से ही उत्पन्न होता है। भगवान बादरायण ने भी ऐसा ही कहा है–''इस प्रपञ्च का जन्म आदि जिससे है वह ब्रह्म है।'' (ब्रह्मसूत्र /१/१/२)

८. शंका—संसार के भावों का विध्वंस करने वाले परमपुरुष से पुनः संसार की उत्पत्ति आदि कैसे संभव है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, अनादिकालीन अविद्या रूपी सचिव के द्वारा ही इस संसार की परमपुरुष से उत्पत्ति होती है।

९. शंका—तो यह अविद्या परमपुरुष से भिन्न दूसरी वस्तु हुई ?

समाधान—वह असत् रूप है क्योंकि वह अविद्या सत्, असत् विचारों के द्वारा प्रमाण की पदवी में अवगाहित है अर्थात् वह प्रामाणिक है। वह अविद्या अनिर्वाच्य (कहने योग्य नहीं) है। कहा भी है– ''यह अविद्या अनिर्वाच्य है। इस अविद्या रूपी द्वितीय सचिव से उत्पन्न हुए ये आकाश, हवा, अग्नि और पृथ्वी हैं। उसी सचिव के ये विवर्त कहलाते हैं। इन्हीं से यह चर-अचर, ऊँच-नीच विश्व उत्पन्न हुआ है। अपरिमित सुख और ज्ञान से सहित, अमृतस्वरूप उस ब्रह्म को हम सभी नमन करते हैं।''

नमामस्तद्ब्रह्मापरिमितसुखज्ञानममृतम् ॥'' इति।

१०.नन्वेवमपि विवर्तविवर्ते द्वैतस्य भावात् कथमद्वैतसिद्धिरिति चेत्; न; विवर्तानां रज्वो भुजङ्गाकारवत् मायारूपाणामेव तस्मिन् प्रतिभासनात्। तदप्युक्तम्–

''यस्मिन् रज्जुभुजङ्गवत् त्रिभुवनं भाति भ्रमान्निर्भये।
सोऽहं नित्यनिरामयामृतवपुः संसारसारः परम्॥'' ....इति।

११.सकलोऽप्येष विवर्तः सत्यामविद्यायां प्रतिभाति, नत्वविद्यानिवृत्तौ। सा चाविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः। तस्य चोपायो ब्रह्मसाक्षात्कार एव। सोऽपि श्रवण-मनन-ध्यानैर्भवति। तथैव श्रुतिः–''आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'' [बृहदा० २/४/५] तथा स्मृतिश्च–

''श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥''....इति।

१२. तत्रोपनिषद्वाक्यानां परब्रह्मणि तात्पर्यावधारणं श्रवणम्। श्रुतार्थस्य युक्त्या विचारणं मननम्। श्रवणमननाभ्यां निश्चितार्थस्य मनसा परिचिन्तनं ध्यानम्। तच्च नित्यानित्यवस्तुविवेकः शमदमादि-संपत्तिरत्रामुत्र च वैराग्यं मुमुक्षुत्वमिति साधनचतुष्टयसंपन्नस्य संपद्यते। तस्मिंश्च ब्रह्मसाक्षात्कारः। तत्र च

---

१०. शंका—इस प्रकार तो विवर्त और अविवर्त (परब्रह्म) में द्वैत का भाव हो जाने से अद्वैत की सिद्धि कैसे होवे ?

समाधान—नहीं। रस्सी में उसके विवर्तों का सर्प के आकार जैसा ज्ञान होने के समान उस परमपुरुष में मायारूप विवर्तों का प्रतिभासन होता है। जैसा कि कहा है–''जिस संसार में रस्सी में सर्प के समान यह तीन लोक भ्रम के कारण इस प्रकार दिखाई देता है, उस भ्रम के चले जाने पर मैं वह पर ब्रह्म हूँ, नित्य-निरामय-अमृत का शरीर हूँ, संसार का सार तथा उत्कृष्ट हूँ, ऐसा भासता है।''

११. यह समस्त विवर्त रूप संसार अविद्या होने पर ही दिखाई देता है, अविद्या के दूर हो जाने पर नहीं। उस अविद्या का नाश होना ही मोक्ष है। उस मोक्ष का उपाय ब्रह्म का साक्षात्कार ही है। वह साक्षात्कार भी श्रवण, मनन और ध्यान से होता है। उसी प्रकार श्रुति है–''अरे! आत्मा ही देखने योग्य है, सुनने योग्य है और मनन योग्य है, उसी का ध्यान करना चाहिए।''(बृहदा० २/४/५)।

स्मृति में भी कहा है–''श्रुति के वचनों से सुनना चाहिए, उपपत्ति (तर्क, युक्ति) के द्वारा उस आत्मा का मनन करना चाहिए। उसे मानकर अर्थात् श्रद्धान कर उसका निरन्तर ध्यान करना चाहिए। यही सब उस ब्रह्म के दर्शन के हेतु हैं।''

१२. वहाँ उपनिषद् के वाक्यों का परब्रह्म में तात्पर्य रूप से अवधारित करना श्रवण है। श्रुत (सुने हुए) अर्थ का युक्ति से विचार करना मनन है। श्रवण और मनन के द्वारा निश्चित हुए अर्थ का मन से अच्छी तरह चिन्तन करना ध्यान है। (१) नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक, (२) शम-दम आदि की प्राप्ति, (३) लोक-परलोक से वैराग्य, (४) मुमुक्षपन इस प्रकार इन चार साधनों से सम्पन्न को वह ध्यान होता है। उस ध्यान में ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। वहीं पर परम ब्रह्म में एकीभाव

परमब्रह्मैकीभावलक्षण-मोक्षप्राप्तिरिति।

[उत्तरपक्ष:]

१३. तदेतदद्वैतैकान्तशासनं प्रत्यक्षविरुद्धम्; प्रत्यक्षेण देशकालाकारभेदविशिष्टानां क्रियाकारकाणां स्थानगमनादिग्रामाराम-करितुरगादिरूपाणां नानाबहिरर्थानां तद्विषयविचित्रप्रतिभास-विशेषाणां परमार्थानां परस्परतो व्यावृत्तानां प्रस्फोटमध्यवसायात्। भेदावभासिना च प्रत्यक्षेणाद्वैतस्य विरुद्धत्वात्। सर्वथैकस्मिन् भेद-प्रत्यक्षस्यानुपपत्तेः।

१४. नन्वेकस्मिन्नपि क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादेः संभवात् स्वप्नसंवेदनवत् कथमद्वैतं [प्रत्यक्ष] विरुद्धमिति चेत्, न, स्वप्नसंवेदनस्याप्येकत्वे तद्विरोधस्य तदवस्थत्वात्। तत्रान्यदेव हि क्रियाविशेषसंवेदनं स्ववासनोत्थम्, अन्यदेव च कारकविशेषसंवेदनं प्रत्यक्षम्, न पुनरेकमेव, तद्धेतुवासनाभेदाभावप्रसंगात्। जाग्रद्दशायामिव स्वप्नादिदशायामपि पुंसोऽनेकशक्त्यात्मकस्य क्रियाकारकविशेष प्रतिभास वैचित्र्य व्यवस्थितेः। कस्यचिदेकरूपस्यात्मगगनादेरप्यनेकान्तवादिनाम् अनेकक्रियाकारकविशेषप्रतिभासा-

---

हो जाना ही मोक्ष प्राप्ति का लक्षण है।

[उत्तरपक्ष]

१३. वह यह अद्वैत एकान्त मत प्रत्यक्ष से विरुद्ध है क्योंकि प्रत्यक्ष से देश, काल, आकार के भेद से विशिष्ट क्रिया कारकों का तथा स्थान, गमन आदि ग्राम, बगीचा, हाथी, घोड़ा आदि रूप अनेक प्रकार के बाह्य पदार्थों का और उन्हीं पदार्थों को विषय कर होने वाले अनेक प्रतिभास विशेषों रूप परमार्थों का जो कि परस्पर में भिन्न हैं, उन सभी का अध्यवसाय (ज्ञान) से स्पष्ट जानना होता है। भेद का ज्ञान कराने वाले प्रत्यक्ष से अद्वैत का विरुद्धपना सिद्ध होता है, क्योंकि सर्वथा एक वस्तु में प्रत्यक्ष से इन सब भेदों की सिद्धि नहीं होती है।

१४. शंका—स्वप्न संवेदन की तरह एक वस्तु में भी क्रिया, कारक का भेद प्रत्यक्ष आदि से संभव हो जाता है, तो अद्वैत में उपर्युक्त सभी का एकपना अर्थात् अद्वैत मानना प्रत्यक्ष से विरुद्ध कैसे हो सकता है?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि स्वप्न संवेदन के एकपने में भी वह विरोध वैसा ही स्थित रहता है। उस स्वप्न में क्रियाविशेष का संवेदन अन्य ही है जो कि अपनी वासना से उत्पन्न हुआ है। कारक विशेष का संवेदन अन्य ही है जो कि प्रत्यक्ष है। ये दोनों चीजें एक नहीं हैं क्योंकि उनमें उनके हेतु और वासना के भेद के अभाव का प्रसंग आ जायेगा। जाग्रत दशा की तरह स्वप्न आदि दशा में भी अनेक शक्त्यात्मक पुरुष के क्रिया-कारक विशेष प्रतिभास की विचित्रता व्यवस्थित है। अनेकान्तवादियों के मत में एक रूप वाले अर्थात् अद्वैत आत्मा, आकाश आदि के अनेक क्रिया कारक विशेषों की सिद्धि प्रतिभास के आलम्बनपने से नहीं होने से भिन्न-भिन्न उपलब्ध वस्तुओं का वह अद्वैत प्रत्यक्ष से विरोध को ही प्राप्त होता है।

लम्बनत्वा सिद्धेर्विरुद्धमेव तत्प्रत्यक्षेणाद्वैतम्।

१५. ननु भेदावभासीदं प्रत्यक्षं भ्रान्तम्, इन्द्रजालादिप्रत्यक्षवदिति चेत्; तदेतद्भ्रान्ततरम्, उक्तदोषाऽपरिहारात्। सर्वथैकस्मिन् भ्रान्तस्याऽभ्रान्तस्य वा भेदप्रत्यक्षस्य दृष्टान्ताभावेनासंभवात्। भ्रान्तेनापि तेनाद्वैतविरोधस्य तदवस्थत्वात्। यथाकथञ्चिदुक्तमप्येतदयुक्तम्, यस्मादिन्द्रजालादिकमेव भ्रान्तम्, बाधकसद्भावात्। नहि ''करोति कुम्भं कुम्भकारो दण्डादिना, भुङ्क्ते पाणिनौदनम्'' इत्यादि क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षं भ्रान्तम्, बाधकाभावादिति बालाबलादयोऽपि प्रतिपद्यन्ते। तदुक्तं भट्टाकलङ्कदेवैः-

इन्द्रजालादिषु भ्रान्तमीरयन्ति न चापरम्।
अपि चाण्डालगोपालबाललोलविलोचनाः॥

[न्यायवि. १/५२] इति।

१६. नन्वत्रापि बाधकमस्त्येवेति चेत्, तदसत्; प्रत्यक्षविषयभेदान्यथाभूतपरमब्रह्माद्वैतसाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्यासंभवात्। विषयान्यथात्वसाधकस्यैव बाधकत्वोपपत्तेः शुक्तौ रजतज्ञानस्य शुक्तिकाज्ञानवत्।

१७. ननु च प्रत्यक्षमेव परमब्रह्मसाधकम्, अक्षिविस्फालनानन्तरं निर्विकल्पकस्य सन्मात्रविधि-

---

१५. वेदान्ती—भेद को दिखाने वाला यह प्रत्यक्ष इन्द्रजाल आदि के प्रत्यक्ष होने की तरह भ्रान्त है।

जैन—तो फिर आपका सभी पदार्थों में एक ब्रह्म का प्रतिभास तो अत्यन्त भ्रान्त है क्योंकि कहे हुए दोषों का परिहार उसमें भी नहीं होता है क्योंकि एक ही वस्तु में सर्वथा भ्रान्त अथवा अभ्रान्त को दिखानेवाले भेद रूप प्रत्यक्ष के दृष्टान्त का अभाव होने से वह असंभव है। तथा उस भेद प्रत्यक्ष के भ्रान्त होने से भी अद्वैत का विरोध तो वैसा ही बना रहेगा। जिस किसी तरह कहा हुआ भी आपका यह अद्वैत सिद्धान्त अयुक्त है। चूँकि इन्द्रजाल आदि ही भ्रान्त हैं, क्योंकि उनके होने में बाधक कारण का सद्भाव है। ''कुम्भकार दण्ड आदि से कुम्भ बनाता है, हाथ से भात खाता है'', इत्यादि क्रिया-कारक भेद प्रत्यक्ष से भ्रान्त नहीं है क्योंकि इस विषय में बाधक कारण का अभाव है जो कि बाल-स्त्री आदि सभी जानते हैं। **भट्टाकलंक देव** ने भी कहा है-''विद्वानों की बात तो छोड़ो जो विद्वान नहीं है ऐसे चाण्डाल, गोपाल, बालक और स्त्रियाँ भी इन्द्रजाल आदि में देखे गये अर्थ को भ्रान्त बतलाते हैं, अभ्रान्त नहीं।'' (न्यायवि.१/५२)

१६. यदि कहो कि इन्द्र जाल आदि में भी बाधक होता ही है तो वह असत् है। क्योंकि प्रत्यक्ष विषय भेद से अन्यथाभूत परम ब्रह्म अद्वैत में साधक (हेतु) के किसी भी प्रमाण की संभावना नहीं है। विषय के अन्यथापने में जो साधक है उसके ही बाधकपने की प्राप्ति होती है जैसे सापी में चाँदी का ज्ञान होना बाधक ही है क्योंकि सीपी में सीपी का ज्ञान होना ही साधक के समान होता है।

१७. यदि कहो कि प्रत्यक्ष ही परम ब्रह्म का साधक है। नेत्र खोलने के तुरन्त बाद ही निर्विकल्प ज्ञान की उत्पत्ति सत्तामात्र विधि को विषय बनाने से हो जाती है और सत्ता के परम ब्रह्म स्वरूपता ही है।

विषयतयोत्पत्तेः, सत्तायाश्च परमब्रह्मस्वरूपत्वात्।

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानं सदृशं शुद्धवस्तुजम्॥"

[मी॰ श्लो॰ प्रत्यक्ष० श्लो॰ १२०]

इति वचनादिति चेत्, तदेतत्सुतरां प्रत्यक्षबाधितम्; सकलविशेषरहितस्य सर्वथा नित्यस्य निरवयवस्य व्यापकस्य सन्मात्रस्य परोपवर्णितस्वरूपस्य जातुचिदप्यननुभवात्। अक्षिविस्फालनानन्तरमपि प्रतिनियत-देशकालद्रष्टव्यत्वादि-विशेषविशिष्टस्यैव सत्तादिसामान्यस्य साक्षात्करणात्; अप्रतिनियतदेशस्य द्रष्टुरनन्यस्यादर्शनात्, अन्यथा प्रतीत्यपलापप्रसंगात्। दण्डकुण्डलाद्याकारकुण्डलिनोरिव सामान्य-विशेषयोरन्योन्य-परिहारेणावस्थानानुपपत्तेः, अन्यतरस्याभावेऽन्यतरस्याप्यभावाच्च। तदुक्तम्–

"निर्विशेषं न सामान्यं भवेत् खरविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि॥"

[मी॰ श्लो॰ आकृति॰ श्लो॰ १०] इति

१८. ततो न प्रत्यक्षं परमब्रह्मसाधकं प्रत्युत तद्बाधकमेव स्यात्, विधिवत् परस्परव्यावृत्तेरप्यध्यक्षतः

जैसा कि कहा है–"देखने से जो ज्ञान सर्वप्रथम होता है वह निर्विकल्पक होता है। बाद में यह बाल है, यह मूक है इस प्रकार का ज्ञान तो शुद्ध वस्तु से उत्पन्न हुआ सदृश ज्ञान ही है।" (मी॰ श्लो॰ प्रत्यक्ष श्लो॰ १२०)।

तो यह आपका कथन प्रत्यक्ष से स्पष्टरूप से बाधित है क्योंकि समस्त विशेषों से रहित, सर्वथा नित्य, निरवयव, व्यापक, सन्मात्र और दूसरे से उपवर्णित (कथित) सामान्य स्वरूप का कभी भी किसी को भी अनुभव नहीं होता है। आँख खोलने के बाद भी प्रतिनियत देश, काल में देखने योग्य आदि विशेषों से विशिष्ट सत्ता आदि सामान्य का साक्षात् देखना होता है। जो द्रष्टा प्रतिनियत देश में स्थित नहीं है उसके एकत्व का दर्शन नहीं होता है, अन्यथा जो दिखाई दे रहा है उस प्रतीति के भी अपलाप का भी प्रसंग आ जायेगा। दण्ड, कुण्डल आदि आकार और कुण्डली में मौजूद सामान्य विशेष की तरह वस्तु में मौजूद सामान्य, विशेष में से किसी एक धर्म का परिहार कर देने पर किसी का भी अवस्थान नहीं रह सकेगा। सामान्य, विशेष इन दो धर्मों में से किसी एक का अभाव हो जाने पर दूसरे का अभाव भी हो जायेगा। कहा भी है–

"खरविषाण की तरह विशेष रहित सामान्य नहीं होता है। सामान्य से रहित होने से विशेष भी खर-विषाण (गधे के सींग) की तरह असत् होगा।" (मी॰श्लो॰ आकृति श्लो॰ १०)

१८. इसलिए प्रत्यक्ष तो परम ब्रह्म का साधक नहीं है अपितु वह उसका बाधक ही है। विधि धर्म की तरह परस्पर में भिन्नता होने की भी प्रत्यक्ष से प्रतीति होती है।

विशेषार्थ–जिस वस्तु में विधि धर्म है वहीं पर उसका निषेध धर्म भी रहता है। ये दोनों धर्म परस्पर में विपरीत हैं तो भी उनकी प्रत्यक्ष से प्रतीति होती है। जैसे घट को देखकर उसमें प्रत्यक्ष से

प्रतीतेः।

१९. ननु न प्रत्यक्षमद्वैतबाधकं तस्य विधातृत्वेन निषेद्धृत्वाभावात्।

''आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृविपश्चितः।
नैकत्व आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते॥''

[ब्रह्मसिद्धिः]

इति वचनादिति चेत्; तदसंगतम्; प्रतिनियतार्थविधिविषयस्य प्रत्यक्षस्यागमस्य वा निषेद्धृत्वोपपत्तेः, केवलविधिप्रतिपत्तेरेव अन्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्, केवलभूतलप्रतिपत्तेरेव घटाभावप्रतिपत्तिरूपत्वसिद्धेः। न ह्ययं प्रतिपत्ता किचिदुपलभमानः पररूपैः संकीर्णमुपलभते, यतः प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिषेधः साध्यते। ततो विधात्रेव प्रत्यक्षमुपनिषद्वाक्यञ्चेति नियमस्यासंभवः, अन्यथा ततो विद्यावदविद्याविधानानुषंगात्। सोऽयम-विद्याविवेकेन सन्मात्रं कुतश्चित् प्रतीयन्नेव ''न

यह घट है, यह उसका विधि धर्म दिखाई देता है तथा यह पट नहीं है, यह उसका निषेध धर्म भी प्रत्यक्ष गोचर होता है इसी तरह सामान्य और विशेष धर्म सहित वस्तु का ही दर्शन होता है। आपने जो माना है कि हमें प्रत्यक्ष से मात्र सामान्य का ही दर्शन होता है सो बात नहीं बनती है।

१९. ब्रह्माद्वैतवादी—यह प्रत्यक्ष अद्वैत का बाधक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण उस अद्वैत का विधान करनेवाला है जिससे उसमें निषेधपने का अभाव है। कहा भी है–

''अद्वैतमती विद्वान् लोग प्रत्यक्ष प्रमाण को विधान करनेवाला कहते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण को निषेध करनेवाला नहीं मानते हैं।'' एकत्व को प्रतिपादन करने वाले आगम को भी कोई बाधा प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं है।''(ब्रह्मसिद्धि)

समाधान—उसका यह वचन भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिनियत पदार्थ की विधि को विषय बनानेवाले प्रत्यक्ष की अथवा आगम की निषेधपने की सिद्धि होती है। केवल विधि रूप धर्म का ज्ञान हो जाने से ही अन्य वस्तु के प्रतिषेध धर्म का ज्ञान हो जाता है। केवल भूतल के ज्ञान से ही घट के अभाव ज्ञान की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् यहाँ केवल धरती है, घट नहीं होने से घट का अभाव स्वतःसिद्ध है। यह ज्ञाता प्रतिनियत अर्थ को कुछ प्राप्त करता हुआ भी उसे पर रूपों से मिलाजुला मिश्रित प्राप्त नहीं करता है, जिससे कि दूसरे प्रमाण से उसका प्रतिषेध साधा जाता है अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञाता को जो कुछ उपलब्ध दिखाई देता है वह पररूप से मिलाजुला या मिश्रितपने को नहीं जानता है बल्कि यह घट है इस ज्ञान से पट नहीं है यह निषेध जब स्वयं हो जाता है तो उसे अन्य प्रमाण से प्रतिषेध धर्म को जानने की जरूरत क्यों पड़े ?

इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण और उपनिषद् के वाक्य ही विधान करने वाले हैं, यह नियम भी संभव नहीं है। अन्यथा उससे विद्या की तरह अविद्या के विधान की भी सिद्धि माननी होगी। फिर वह यह अविद्या के भेद या विवेक से किसी भी हेतु से सन्मात्र को मानता हुआ ही तथा ''न निषेधक प्रत्यक्ष है, अथवा न कोई अन्य है'' इस प्रकार कहने वाला पुरुष स्वस्थ कैसे होगा? अथवा प्रत्यक्ष आदि

निषेद्धृप्रत्यक्षमन्यद्वा'' इति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? कथं वा प्रत्यक्षादेर्निषेद्धृत्वाभावं प्रतीयात्? यतस्तत्प्रतिपत्तिः तस्यैव अभावविषयत्वसिद्धेः। प्रत्याक्षादेर्विधातृत्व-प्रतिपत्तिरेव निषेद्धृत्वाभाव-प्रतिपत्तिरिति चेत्ः, तर्हि सिद्धं भावाभावविषयत्वं तस्य। तथा च प्रत्यक्षेणा-द्वैतैकान्तो बाध्यत एवेति कथं तत्तस्य साधकं स्यात्?

२०. नन्वनुमानं तत्साधकमस्ति-''विवादापन्नं सर्वं प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्, प्रतिभाससमानाधि-करणत्वात्, यत्प्रतिभाससमानाधिकरणं तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्; यथाप्रतिभासस्वरूपम्, प्रतिभास-समानाधिकरणं च सर्वम्'' इति निर्दुष्टत्वाद्धेतोः प्रतिभासमात्ररूपपरमब्रह्मसिद्धिरिति चेत्; तदेतत् स्ववधाय

से निषेधकपने का अभाव कैसे प्रतीति में आए? जिससे उन प्रत्यक्षादि की प्रतिपत्ति उसके ही अभाव विषयत्व को सिद्ध करने से हो।

शंका—प्रत्यक्ष आदि के विधि धर्म का ज्ञान ही निषेधक धर्म के अभाव का ज्ञान है।

समाधान—तो फिर भाव और अभाव दोनों ही विषय प्रत्यक्ष आदि के सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्यक्ष से अद्वैत एकान्तवाद बाधित होता है, इसलिए वह प्रत्यक्ष उस अद्वैत का साधक कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

२०. ब्रह्माद्वैतवादी—अनुमान उस निषेध का साधक है। वह अनुमान है। विचार कोटि में स्थित सभी धर्म (पक्ष) प्रतिभास से अन्तः प्रविष्ट हैं (साध्य) प्रतिभास का समानाधिकरण होने से (हेतु)। जो भी प्रतिभास का समान रूप से अधिकरण होता है वह प्रतिभास में अन्तःप्रविष्ट है, जैसे प्रतिभास का स्वरूप (दृष्टान्त) प्रतिभास के अन्तःप्रविष्ट ही हैं (साध्य) उससे बाहर नहीं है (निगमन) इसलिए जगत् के समस्त पदार्थ, सब ही प्रतिभास के समान रूप से अधिकरण हैं (उपनय)। इस प्रकार निर्दुष्ट हेतु होने से प्रतिभास मात्र रूप परम ब्रह्म की सिद्धि होती है अर्थात् यह प्रतिभास ही परमब्रह्म है, जो सर्वत्र व्याप्त है।

जैन—आपका यह कथन आपके अपने ही नाश के लिए है, जो कि ब्रह्मवादियों के लिए कृत्या के उत्थापन (उठने) की तरह है।

विशेष—अथर्व मन्त्रों के द्वारा अग्नि में होम करने वाले के द्वारा जो पुरुष निकाला जाता है वह कर्त्ता के शत्रु का नाश कर देता है अथवा शत्रु यदि बलवान होता है तो जप, होम, दान के द्वारा उसी समय वह पुरुष जिसने उसे प्रकट किया है उसी का नाश कर देता है। वह पुरुष कृत्या शब्द से यहाँ लिया गया हैं। अर्थात् अपनी युक्ति अपने ही विनाश का कारण बन जाती है।

क्योंकि प्रतिभास का समान अधिकरणपना होने रूप हेतु से सभी का प्रतिभास के भीतर प्रविष्ट होने रूप से पुरुष अद्वैत की सिद्धि हो जाने पर हेतु और साध्य का यह द्वैत दुर्निवार हो जाता है। अर्थात् द्वैत सिद्धि को रोका नहीं जा सकता है।

स्वामी समन्तभद्र आचार्य ने भी कहा है–

कृत्योत्थापनं ब्रह्मवादिनाम्, प्रतिभाससमानाधिकरणत्वाद्धेतोः सर्वस्य प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वेन पुरुषाद्वैतसिद्धौ हेतुसाध्यद्वैतस्य दुर्निवारत्वात्। तदुक्तं स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः–

''हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेत् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्॥''

[आप्तमी० श्लो० २६] इति।

२१. ननु हेतोरद्वैतसिद्धावपि न हेतुसाध्ययोर्द्वैतं भविष्यति , तादात्म्योपगमात्। न च तादात्म्ये साध्यसाधनयोस्तद्भावविरोधः, सत्त्वानित्यत्वयोरपि तथा भावविरोधानुषंगात्। कल्पनाभेदादिह साध्य-साधनधर्मभेदे प्रकृतानुमानेऽपि कथमविद्योपकल्पित-हेतुसाध्ययोस्तद्भावविघातः; सर्वथा विशेषाभावादिति चेत्, न; शब्दादौ सत्त्वानित्यत्वयोरपि कथंचित्तादात्म्यात्सर्वथातादात्म्यासिद्धेः, तत्सिद्धौ साध्यसाधनभाव-विरोधात्। न चासिद्धमुदाहरणं नाम, अतिप्रसङ्गात्। किं च न सम्यगिदं साधनं विरुद्धत्वात्, प्रतिभास-तद्विषयाभिमतयोः कथञ्चिद्भेदे सति समानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेः सर्वथा प्रतिभासान्तः प्रविष्टत्वाऽसाधनात् स्वविषयस्य। न हि ''शुक्लः पटः'' इत्यादावपि सर्वथा गुणद्रव्ययोस्तादात्म्ये सामानाधिकरण्यमस्ति,

---

''हेतु से यदि अद्वैत की सिद्धि होती है तो हेतु और साध्य के बीच द्वैत हो जाता है। हेतु के बिना यदि काल्पनिक वचन मात्र से अद्वैत की सिद्धि होती है तो वचन मात्र से द्वैत की सिद्धि ही क्यों न मान ली जाय।''

२१. **ब्रह्माद्वैतवादी**–हेतु से अद्वैत की सिद्धि हो जाने पर भी हेतु और साध्य के बीच द्वैत नहीं होगा क्योंकि हेतु और पुरुष में तादात्म्य स्वीकार किया गया है। और तादात्म्य सम्बन्ध होने पर साध्य, साधन में तद्भाव विरोध नहीं रह जाता है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो सत्त्व और अनित्यत्व धर्म में भी उसी तरह भाव के विरोध का प्रसंग आ जायेगा। कल्पना भेद से यहाँ साध्य-साधन धर्म में भेद होने रूप प्रकृतविषय का अनुमान होने पर भी अविद्या से रचे गए हेतु और साध्य में तद्भाव का विघात कैसे होगा? अर्थात् नहीं होगा क्योंकि विशेष का तो उसमें सर्वथा अभाव होता है।

जैन–ऐसा नहीं है, क्योंकि शब्द आदि में सत्व और अनित्यत्व धर्म दोनों के होने पर भी उसमें कथंचित् तादात्म्य होने से सर्वथा तादात्म्य सिद्ध नहीं होता है। तादात्म्यसम्बन्ध सर्वथा सिद्ध होने पर साध्य-साधन भाव का विरोध होता है और जो असिद्ध है वह उदाहरण नहीं होता है क्योंकि असिद्ध को मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है। दूसरी बात यह है कि आपका यह साधन समीचीन नहीं है क्योंकि विरुद्धपना आता है। प्रतिभास और उस विषय के अभिमत में कथंचित् भेद मानने पर समानाधिकरणपने की प्रतीति होने से अपने विषय के सिद्ध करने में सर्वथा प्रतिभास में अन्तःप्रविष्टपना साधन (हेतु) नहीं होता हैं।''वस्त्र शुक्ल है'' इत्यादि उदाहरण में भी गुण और द्रव्य में सर्वथा तादात्म्य (अभेद) मानने पर सामानाधिकरण सर्वथा अभेद की तरह नहीं बन सकता है। ''प्रतिभास स्वरूप प्रतिभासित होता है'' यहाँ भी प्रतिभास और उसके स्वरूप में, जो कि लक्ष्य और लक्षणभूत हैं, इनमें भी सर्वथा तादात्म्य नहीं होता है क्योंकि साधारण और असाधारण धर्म के

सर्वथाभेदवत्। ''प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासते'' इत्यत्रापि न प्रतिभास तत्स्वरूपयोर्ल्लक्ष्यलक्षणभूतयोः सर्वथा तादात्म्यमस्ति; प्रतिभासस्य साधारणाऽसाधारणधर्माधिकरणस्य स्वस्वरूपादसाधारणधर्मात् कथञ्चिद्भेद-प्रसिद्धेः, अन्यथा तत्सामानाधिकरण्यायोग्यात् ''सुवर्णं सुवर्णम्'' इति यथा, सह्यविन्ध्यवद्वा। तदेवं यत् प्रतिभाससमानाधिकरणं तत्प्रतिभासात् कथञ्चिदर्थान्तरम्; यथा प्रतिभासस्वरूपम्; प्रतिभाससमानाधिकरणं च सुखनीलादि सर्वमिति साध्यविपरीतसाधनात् हेतोर्नाद्वैतसिद्धिः।

२२.अथागमस्तत्साधकोऽस्त्येव ''सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म'' [मैत्रा०४/६] इत्याद्यागमस्य परमब्रह्म-साधकस्य सद्भावादिति चेत्, तदपि स्ववधाय कृत्योत्थापनमेव, अद्वैत-तदागमयोर्द्वैतप्रसंगात्।

२३. यदि पुनरागमोऽप्यद्वयपुरुषस्वभाव एव न ततो व्यतिरिक्तो येन द्वैतमनुषज्यते इति मतम्,

''ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥''

[भगवद्गी० १५/१]

इति वचनात्। तदा ब्रह्मवत्तदागमस्याप्यसिद्धत्वं स्यात्, सर्वथा-प्यसिद्धस्वभावस्य सिद्धत्वविरोधात्, सिद्धाऽसिद्धयोर्भेदप्रसक्तेः।

अधिकरण भूत इस प्रतिभास का असाधारण धर्म की अपने स्वरूप से कथंचित् भेद की सिद्धि होती है। अन्यथा उसमें सामानाधिकरण की योग्यता नहीं होने से जैसे सुवर्ण सुवर्ण है, इसमें समानाधिकरण नहीं होगा अथवा सह्याचल और विन्ध्याचल पर्वत के समान मानना होगा। इस प्रकार जो वह प्रतिभास समानाधिकरण है वह प्रतिभास से कथंचित् अर्थान्तर रूप (भिन्न) मानना होता है जैसे प्रतिभास का स्वरूप और प्रतिभास समान अधिकरण सुख, नील आदि सभी पदार्थ हैं। इस प्रकार साध्य के विपरीत को सिद्ध करने वाले हेतु से अद्वैत की सिद्धि नहीं होती है। अर्थात् इस प्रकार प्रतिभास समानाधिकरण हेतु से साध्यविपरीत अर्थ यानि द्वैत की सिद्धि होने के कारण इस अनुमान प्रयोग के द्वारा अद्वैत की सिद्धि नहीं मानी जा सकती है।

२२. अब यदि कहो कि आगम इस अद्वैत की सिद्धि में साधक है क्योंकि ''यहाँ यह सब कुछ ब्रह्म है'' इस परमब्रह्म के लिए साधक आगम का सद्भाव है तो यह भी अपने वध के लिए कृत्या का उत्थापन ही है क्योंकि अद्वैत ब्रह्म और उस आगम में द्वैत का प्रसंग आ जाता है।

२३. यदि कहो कि वह आगम भी एक पुरुष का स्वभाव ही है, इसलिए वह उससे भिन्न नहीं है जिससे द्वैत का दोष आए, जैसा कि कहा है-''आदि पुरुष परमेश्वर रूप मूल वाले और ब्रह्म रूप मुख्य शाखा वाले जिस संसार रूप पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये है, उस संसार वृक्ष को जो समूल जानता है, वह वेद को जानता है।'' तो फिर ब्रह्म के समान ब्रह्म को बताने वाला वह आगम भी असिद्ध होता है। सर्वथा असिद्ध स्वभाव के सिद्धपने का विरोध है और सिद्ध तथा असिद्ध स्वभाव में भेद का प्रसंग आता है।

२४. और दूसरी बात यह है कि ''सब कुछ ब्रह्म ही है'' इस आगम से भी द्वैत की ही सिद्धि

२४. किंच ''सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म'' [मैत्रा० ४/६] इत्याद्याम्नायादपि द्वैतसिद्धिरेव स्यात्, सर्वस्य प्रसिद्धस्याऽप्रसिद्धेन ब्रह्मत्वेन विधानात्। सर्वथा प्रसिद्धस्य विधानायोगादप्रसिद्धवत्। क्व चिदात्मव्यक्तौ प्रसिद्धस्यैकात्म्यरूपस्य ब्रह्मत्वस्य सर्वात्मस्व-नात्माभिमतेषु च विधानात्। द्वैतप्रपञ्चारोपव्यवच्छेदेऽपि तदागमाद् व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकसद्भावसिद्धेः कथमद्वैतसिद्धिः ? आम्नायस्य परमब्रह्मस्वभावत्वे न ततस्तदद्वैतसिद्धिः। स्वभाव-स्वभाववतोः तादात्म्यैकान्तानुपपत्तेः।

२५. अथ स्वसंवेदनमेव पुरुषाद्वैतसाधकमिति चेत्; न; स्वसंवेदनात्मनोर्द्वैतप्रसंगात्। न हि स्वसंवेदनमपि साधनमात्मनोऽनन्यदेव; साधनत्वविरोधात्, अनुमानागमवत् साध्यस्यैव साधनत्वोपपत्तेः, प्रकृतानुमानागमयोरिव स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्यापि साधन[त्व]स्याभावात्।

२६. न च पुरुषाद्वैतं स्वतः सिद्ध्यति, विज्ञानाद्वैतवत्, स्वरूपस्य स्वतोगतेरभावात्, अन्यथा कस्यचित्तत्र विप्रतिपत्तेरयोगात्, विज्ञानाद्वैतस्यापि प्रसिद्धेरिष्टिहानिप्रसंगाच्च।

२७. ननु विज्ञानाद्वैतं न स्वतोऽवसीयते, तस्य क्षणिकस्यैकक्षणस्थायितया निरंशस्यैकपरमाणुरूपतया

होती है। उसका कारण यह है कि सर्वप्रसिद्ध आगम का विधान अप्रसिद्ध ब्रह्म के द्वारा होता है। अप्रसिद्ध ब्रह्मा के द्वारा सर्वथा प्रसिद्ध के विधान का योग नहीं अप्रसिद्ध को नहीं मानने के समान ब्रह्म को नहीं माना जा सकता है। किसी आत्म व्यक्ति में प्रसिद्ध ऐकात्म्यरूप ब्रह्मत्व का उस ब्रह्म से भिन्न माने गये सभी आत्माओं में और अनात्म रूप चराचर पदार्थों में विधान किया गया है।

इन द्वैत प्रपंचो रूप आरोप का व्यवच्छेद मानने पर भी उस आगम से व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदक भाव की सिद्धि होने से अद्वैत की सिद्धि कैसे हो सकती है ? तथा आगम को परम ब्रह्म स्वभाव रूप मानने पर भी उस आगम से उस अद्वैत की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि स्वभाव और स्वभाववान् में तादात्म्य एकान्त से प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् कथंचित् भेद भी सिद्ध होता है जिससे अद्वैत की ही सिद्धि न होकर द्वैतसिद्धि भी होती है।

२५. यदि कहो कि स्वसंवेदन ही पुरुषाद्वैत का साधक है, सो भी नहीं है क्योंकि स्वसंवेदन और आत्मा इन दोनों का द्वैत हो जाता है। आत्मा का स्वसंवेदन रूप साधन भी उस आत्मा से एकरूप नहीं है क्योंकि अनन्य (एकरूप/अभिन्न) साधन मानने पर विरोध आता है। अनुमान और आगम की तरह साध्य को ही साधन मानने की सिद्धि होती है। जिससे इस विषय में अनुमान और आगम की तरह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के भी साधनपने का अभाव होता है।

२६. विज्ञानाद्वैत की तरह पुरुषाद्वैत की सिद्धि स्वतः नहीं होती है। स्वरूप की स्वतः सिद्धि का अभाव है। अन्यथा उस स्वरूप में किसी को भी विसंवाद का योग ही नहीं होगा और विज्ञानाद्वैत की सिद्धि से भी इष्ट हानि का ही प्रसंग आयेगा।

२७. शंका—विज्ञानाद्वैत स्वयं से नहीं जानता है, क्योंकि विज्ञानाद्वैत का स्वरूप क्षणिक है। वह एक क्षण स्थायी होने से निरंश है तथा एक परमाणु रूप होने से एक बार भी उसके अनुभव का अभाव है (किन्तु पुरुषाद्वैत में ऐसा नहीं है)?

सकृदप्यनुभवाभावादिति चेत्; न, पुरुषाद्वैतस्यापि नित्यस्य सकलकालकलाकलापव्यापितया सर्वगतस्य च सकलदेशप्रतिष्ठिततया सकृदप्यनुभवाभावाऽविशेषात्। ''स्वतःसिद्धं ब्रह्म'' इत्युपगमे; द्वैतमपि स्वतः सकल-साधनाऽभावेऽपि किं न सिद्ध्येत्; तत्त्वोपप्लवमात्रं वा नैरात्म्यं वा स्वाभिलापमात्राविशेषात्? सर्वस्य सर्वमनोरथसिद्धिरपि दुर्निवारा स्यात्। एवं परब्रह्मसाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्याभावात् भेदग्राहिप्रत्यक्षस्य बाधकाभावो व्यवतिष्ठत एव, एतदन्यस्यापि बाधकस्य अयोगात्।

२८. स्यादाकूतम्-विवादापन्नं प्रत्यक्षादि मिथ्यैव, भेदप्रतिभासत्वात्, स्वप्नप्रत्यक्षादिवदिति; तदसत्; प्रकृतानुमाने पक्ष-हेतु-दृष्टान्तभेदप्रतिभासस्याऽमिथ्यात्वे तेनैव हेतोर्व्यभिचारात्। तन्मिथ्यात्वे तस्मादनु-मानात् साध्याऽप्रसिद्धेः। पराभ्युपगमात् पक्षादिभेदप्रतिभासस्याऽमिथ्यात्वेऽपि न दोषः इति चेत्; न; स्वपराभ्युपगम-भेदप्रतिभासेन व्यभिचारात्। तस्यापि पराभ्युपगमान्तरादमिथ्यात्वाद्दोषाभावे स एव

समाधान—नहीं। पुरुषाद्वैत भी नित्य है, क्योंकि वह समस्त काल की कलासमूहों में व्याप्त है तथा समस्त स्थान में प्रतिष्ठित होने से सर्वगत है, इसलिए एक बार भी उसके अनुभव का अभाव होने से दोनों में कुछ भी विशेष नहीं है। ''ब्रह्म स्वतः सिद्ध है'' इस प्रकार स्वीकारने पर समस्त साधनों (हेतुओं) का अभाव होने पर भी द्वैत की भी सिद्धि स्वतः क्यों नहीं हो ? अर्थात् द्वैत भी स्वयं सिद्ध है, ऐसा मानना पड़ेगा क्योंकि तत्त्वोपप्लव मात्र में अथवा नैरात्म्यवाद में भी अपने कथन मात्र की अपेक्षा से कोई विशेषता नहीं होने से इन तत्त्वोपप्लव और नैरात्म्य की सिद्धि भी क्यों न होवे अर्थात् यह भी स्वयं सिद्ध हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में सभी के सभी मनोरथों की सिद्धि भी दुर्निवार होगी अर्थात् सभी मतों की सिद्धि में कोई बाधा नहीं आएगी।

इस तरह पर-ब्रह्म के साधक किसी भी प्रमाण का अभाव होने से भेद को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण के बाधक का अभाव हो ही जाता है क्योंकि इससे अन्य किसी बाधक का भी इसमें कोई योग सिद्ध नहीं है।

२८. कोई कहता है कि विवाद ग्रस्त प्रत्यक्ष आदि मिथ्या ही है क्योंकि स्वप्न प्रत्यक्ष आदि के समान यह भेद प्रतिभास मात्र है। वह असत् है प्रकृत आनुमान में क्योंकि पक्ष, हेतु, दृष्टान्त से भेद प्रतिभास का अमिथ्यापन अथवा सम्यक्पना सिद्ध होने पर उसी अनुमान से हेतु व्यभिचारी होता है। और अनुमान प्रमाण के मिथ्या होने पर उस अनुमान से साध्य की सिद्धि नहीं होती है।

शंका—पक्ष आदि भेद प्रतिभास की समीचीनता है अर्थात् वे सत्य हैं क्योंकि दूसरों से (परवादियों से) स्वीकृत हैं इसलिए कोई दोष नहीं है?

परिहार—ऐसा नहीं है क्योंकि स्व-पर की स्वीकारता रूप भेद (द्वैत) प्रतिभास के द्वारा यहाँ दोष आता है। अर्थात् द्वैत सिद्ध होता है।

यदि कहो कि भेदप्रतिभास की दूसरों के द्वारा स्वीकारता के बिना ही सत्यता है जिससे दोष का अभाव मानने पर एक ब्रह्म ही है तो इससे भी भेद का प्रतिभास ही तो हुआ जिससे व्यभिचार (दोष) आता है, इस प्रकार कहीं भी अद्वैत की व्यवस्था नहीं बनती है।

तद्भेदप्रतिभासेन व्यभिचारः इति न क्व चिद्व्यवतिष्ठेत्।

२९. कश्चिदाह–ब्रह्माद्वैतस्यामिथ्यासविन्मात्रस्य स्वतः सिद्धस्य क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादीनां बाधकस्याभावात्तेषां भ्रान्तत्वं ततो न तद्विरोधकत्वमिति; तदपि न साधीयः, तथा सति बाध्यबाधकयोर्भेदात्, द्वैतसिद्धिप्रसंगात्।

३०. न च परोपगममात्रात्तयोर्बाध्यबाधकभावः, परमार्थतस्तदभावापत्तेः। ततः सकलबाधकाभावात् अभ्रान्तेन प्रत्यक्षेण प्रसिद्धोऽयं भेदः कथमद्वैतं न विरुन्ध्यात्। तयोः परस्परविरोधात्। तत एव भेदमद्वैतं विरुन्ध्यादिति चेत्; न; अद्वैतस्याभ्युपगममात्रत्वात्, तत्साधकप्रमाणाभावस्य प्रागेवोक्तत्वात्, भेदस्य च प्रमाणसिद्धत्वात्, तद्ग्राहिप्रत्यक्षस्य बाधकाभावात्, अभ्रान्तत्वेन साधितत्वात्। नहि कस्यचिदभ्युपगममात्रं प्रमाणसिद्धं क्रियाकारकभेदं प्रतिरुणद्धि, क्षणिकाभ्युपगमवत्। तदेवं सकलबाधकवैधुर्यादभ्रान्तप्रत्यक्ष-प्रसिद्धक्रियाकारकभेदः, सोऽयमद्वैतैकान्तपक्षे विरुध्यत एवेति सिद्धं परमब्रह्माद्वैतशासनं प्रत्यक्षविरुद्धमिति। तदुक्तं श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यैः–

''अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्ध्यते।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते॥''

[आप्तमी॰ श्लो॰ २४] इति

---

२९. फिर भी यदि कोई कहता है कि ''समीचीन ज्ञानमात्र एवं स्वतःसिद्ध ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त के क्रियाकारक के भेद, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के बाधक होने का अभाव है। जिससे क्रियाकारक आदिकों का ही भ्रान्तपना है। इसीलिए ये सब ब्रह्माद्वैत के विरोधक नहीं है।'' यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर बाध्य-बाधक में भेद सिद्ध हो जाने पर द्वैत-सिद्धि का प्रसंग आ जाता है।

३०. पर की स्वीकारता मात्र होने से ही उन दोनों में बाध्य-बाधक भाव नहीं होता है क्योंकि परमार्थ से उनके (बाध्य-बाधक भाव के) अभाव की प्राप्ति होती है। इसलिए सकल बाधकों का अभाव होने से अभ्रान्त प्रत्यक्ष से प्रसिद्ध हुआ यह भेद अद्वैत का विरोध क्यों नहीं करे? अर्थात् अवश्य ही करे क्योंकि द्वैत, अद्वैत दोनों में परस्पर विरोध है।

शंका—इससे ही भेद अद्वैत के विरुद्ध हो जावे।

समाधान—नहीं, अद्वैत की तो स्वीकारता मात्र है क्योंकि उसके साधक प्रमाण का अभाव है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। तथा भेद तो प्रमाण सिद्ध है, क्योंकि उसको ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष में बाधक का अभाव है और अभ्रान्त रूप से वह साधित है।

और किसी के द्वारा मानी गई स्वीकारता मात्र प्रमाण से सिद्ध क्रियाकारक के भेदों को नहीं रोक पाती है जैसे कि क्षणिकवाद की स्वीकारता मानी गई है।

इस प्रकार अभ्रान्त प्रत्यक्ष से सिद्ध क्रिया-कारक का भेद समस्त बाधकों से रहित होने के कारण सिद्ध है। अद्वैतैकान्त पक्ष में वही यह क्रियाकारक भेद विरोध को प्राप्त होता है। इस तरह परम ब्रह्माद्वैत शासन प्रत्यक्ष विरुद्ध है, यह सिद्ध होता है। ऐसा ही स्वामी समन्तभद्राचार्य देव ने कहा है–

३१. एतेनैव इष्टविरुद्धं चाद्वैतशासनम्। उक्तं च अद्वैत-साधकानुमानागमाभ्यां द्वैतस्य सिद्धेरुक्तत्वात्। अद्वैतशब्दः स्वाभिधेय-प्रत्यनीकपरमार्थापेक्षः,नञ् पूर्वाऽखण्डपदत्वात्;''अहेत्व-भिधानवत्'', इत्यनुमान-विरोधाच्च। तदप्युक्तं भगवद्भिः स्वामिभिः-

''अद्वैतं न विनाद्वैतादहेतुरिव हेतुना।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्॥''

[आप्तमी॰ श्लो॰ २७] इति

३२. तथा ब्रह्मवादिनां धर्मानुष्ठानं न प्रतिष्ठामियर्ति, तेषां पुण्यपापसुखदुःखेहपरलोकविद्येतर-बन्धमोक्षासंभवात्, तत्त्वोपप्लववादिवत्। तथैव स्वामिनः प्राहुः-

''कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा॥''

[आप्तमी॰ श्लो॰ २५] इति

''अद्वैत एकान्त पक्ष में भी कारकों एवं क्रियाओं का यह प्रमाणसिद्ध भेद विरोध को प्राप्त होता है। कारण कि जो सर्वथा एक रूप होता है वह अपने आप कर्ता, कर्म आदि कारकों एवं क्रिया के भेद रूप नहीं हो सकता है क्योंकि एक ब्रह्म अपने आप से ही उत्पन्न नहीं हो जाता है।''

३१. इस तरह अद्वैत शासन इस अनुमान प्रमाण से भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अद्वैत के साधक अनुमान और आगम के द्वारा द्वैत की सिद्धि कही जाने से अद्वैत शासन इष्ट विरुद्ध कहा गया है। अद्वैत शब्द अपने अभिधेय (अर्थ) के प्रतिपक्षी परमार्थ रूप (द्वैत) की अपेक्षा करनेवाला सिद्ध होता है। कारण यह है कि यह शब्द नञ् निषेधपूर्वक अखण्ड पद का वाचक है।

विशेष-एक अर्थ का वाचक पद अखण्ड पद कहलाता है। नञ् से मतलब यहाँ नञ् समास से है। इससे यह सिद्ध होता है कि अद्वैत यह पद द्वैत का प्रतिपक्षी है, परमार्थभूत है।

जैसे अहेतु को कहा जाता है। न हेतुः अहेतुः। इसी प्रकार अनुमान से ज्ञात होता है कि यह अद्वैत पद अपने प्रतिपक्षी द्वैत के बिना नहीं हो सकता है, इस अनुमान से विरोध आता है। अर्थात् इस अद्वैत शब्द से ही द्वैत की सिद्धि होती है। स्वामी भगवान् समन्तभद्र ने भी कहा है-

''हेतु के बिना अहेतु की तरह यह अद्वैत बिना द्वैत के सिद्ध नहीं होता है क्योंकि प्रतिषेध के योग्य पदार्थ के बिना कहीं पर भी संज्ञी (जाने गए) पदार्थ का प्रतिषेध नहीं हुआ करता है।'' (आप्त मी॰ २७)

३२. इसी प्रकार ब्रह्मवादियों का धर्मानुष्ठान भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता है। तत्त्वोपप्लव वादी की तरह ब्रह्मवादियों के मत में भी पुण्य, पाप, सुख, दुःख, इहलोक, परलोक, विद्या, अविद्या, बन्ध और मोक्ष संभव नहीं होते हैं। स्वामी समन्तभद्र देव ने भी कहा है-

''दो कर्म, दो फल एवं दो लोक इस अद्वैतैकान्त पक्ष के समक्ष घटित नहीं हो सकते हैं। इसी तरह विद्या, अविद्या ये दोनों तथा बंध, मोक्ष ये दोनों भी घटित नहीं होते हैं।'' (आप्त मी॰ २५)

३३. एतेन यदुक्तं वेदान्तवादिभिः ''एकमेव ब्रह्म नानात्मतया दृश्यते, ब्रह्मविवर्ताः पृथिव्यादयः, ब्रह्मप्राप्तिर्मोक्षः, श्रवणादिभिः ब्रह्मसाक्षात्कार'' इत्यादि, तत्सर्वं बन्ध्यास्तनन्धयसौरूप्यव्यावर्णनवदुपेक्षा-मर्हति, केनापि प्रमाणेन ब्रह्मसिद्धेरभावात्, अन्यथा प्रमाणप्रमेयद्वैतप्रसंगात्। भ्रान्तेन प्रमाणेन तत्सिद्धौ स्वप्नोपलब्धधूमादिना परमार्थपावकादिसिद्धिप्रसंगात्। चन्द्रमरीचिजालसन्निधिविशेषात् परिणमज्जल-पुद्गलविकारत्वात् परमार्थेनैव प्रतिबिम्बेन चन्द्रप्रतिपत्तेः। भ्रान्तेन प्रमाणेन प्रमाणमन्तरेण वा ब्रह्माद्वैतसिद्धौ तथाद्वैत-नैरात्म्यादिसिद्धिरपि दुर्निवारा स्यात्। तथा द्वैताऽद्वैतयोर्बाधकसाधकाभावाद्वेदान्तिनां दृष्टहानिरदृष्ट-कल्पनेयं केवलमुपहासाय जायते।

३४. किं च, यद्येकमेव परब्रह्मास्ति तर्हि तदेव कुतो न प्रतीतिपथमवतरति, यदि वा प्रपञ्चः खरविषाणवदभावरूपः कुतस्तर्हि स एव ''अहमहमिकतया प्रतीतिपथमापनिपद्यते इति पृष्टः स्पृष्टमाचष्टां परः अविद्यया तथेति चेत्, तदसत्; अविद्याया एव परोपवर्णितस्वरूपाया व्यवस्थापयितुमशक्तेः, विकल्पानतिक्रमात्। अविद्याया असत्त्वे, मिथ्याप्रतीतिहेतुत्वानुपपत्तेः, सत एव अदृष्ट-दोष-संस्कार-

---

३३. वेदान्तवादियों के द्वारा जो यह कहा गया है कि –एक ही ब्रह्म अनेकात्मक रूप से दिखाई देता है, पृथ्वी आदि ब्रह्म के विवर्त (पर्याय) हैं, उस ब्रह्म की प्राप्ति मोक्ष है, श्रवण आदि से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, इत्यादि समस्त कथन बन्ध्या स्त्री के द्वारा अपने पुत्र के सौन्दर्य का वर्णन की तरह उपेक्षा योग्य है, क्योंकि किसी भी प्रमाण से ब्रह्म सिद्धि नहीं होती है अन्यथा प्रमाण, प्रमेय के द्वैत का प्रसंग आ जायेगा। यदि भ्रान्त प्रमाण के द्वारा ब्रह्म की सिद्धि होने लगे तो स्वप्न में उपलब्ध धुंए आदि से वास्तव में अग्नि आदि की सिद्धि का प्रसंग आ जायेगा क्योंकि चन्द्रमा की किरणों के समूहों की समीपता विशेष से परिणमन करते हुए जलरूप पुद्गलों के कार्य से परमार्थभूत प्रतिबिम्ब के द्वारा ही चन्द्र का ज्ञान होता है। भ्रान्त प्रमाण से अथवा प्रमाण के बिना ही ब्रह्माद्वैत की सिद्धि मानने पर तो उसी तरह अद्वैत-नैरात्म्य आदि की सिद्धि भी दुनिर्वार हो जायेगी अर्थात् नैरात्म्य वाद की सिद्धि को भी कौन रोक पाएगा? तथा द्वैत सिद्धि में बाधक का अभाव और अद्वैत सिद्धि में साधक प्रमाण का अभाव होने से वेदान्तियों के यहाँ उनकी यह दृष्ट की हानि और अदृष्ट की कल्पना केवल उपहास के लिए ही सिद्ध होती है।

३४. दूसरी बात यह है कि यदि एक ही पर-ब्रह्म है तो फिर वह प्रतीति में क्यों नहीं आता है? यदि सारा संसार खर-विषाण की तरह अभाव रूप है तो फिर वह क्यों ''अहमहमिकतया'' अर्थात् इन सब पदार्थों में मैं हूँ, इस प्रकार स्ववचन विरोध को प्राप्त होता है। इस प्रकार पूछने पर यदि यहाँ आप कहो कि यह जगत् अविद्या के कारण ऐसा प्रतीति में आता है तो वह भी ठीक नहीं हैं। कारण यह है कि आपके सिद्धान्त में दूसरों के यहाँ वर्णित स्वरूप वाली अविद्या की व्यवस्था करना ही संभव नहीं है क्योंकि वह अविद्या विकल्पों से अतिक्रान्त नहीं है। उस अविद्या का असत्त्व मानने पर मिथ्या प्रतीति में हेतुपना वह अविद्या नहीं बन सकती है। यदि उस अविद्या को सत्

यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रादेः स्वप्नेन्द्रजालादिमिथ्याप्रतीति-हेतुत्वप्रतिपत्तेः। तस्याः सद्रूपत्वे द्वैतसिद्धिः प्रसक्तेरिति। अविद्यायाः सदसत्त्वाभ्याम-निर्वाच्यत्वे कथम् ''अविद्या संसारदशायामस्ति, संसारस्याऽविद्याविलासत्वात्; मुक्तिदशायां तु नास्ति, मुक्तेरविद्यानिवृत्तिरूपत्वात्'' इति शिष्यं प्रति प्रतिपाद्येत। तदा तस्याः सदसत्त्वाभ्यां वाच्यत्वसंभवात्। तथा चाप्रतिपादने विनेयानां कथं मोक्षाय प्रवृत्तिः, संसारमोक्षस्वरूपानवबोधात्। ''अनिर्वाच्याऽविद्या'' इत्यविद्यास्वरूपकथनमिदं स्ववचनविरुद्धम्-

''यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी च मत्पिता।
माता मम भवेद्बन्ध्या स्मराभोऽनुपमो भवान्॥''

इत्यादि वचनवत्। अनिर्वाच्यशब्देनाविद्यानभिधाने चानर्थकवचनतया निग्रहस्थानत्वापत्तेः।

३५. ननु वस्तुन्येव प्रमाणप्रवृत्तिर्नावस्तुनि। ततोऽस्माभिर्वस्तुवृत्तमपेक्ष्याविद्या व्यवस्थाप्यते। तदुक्तम्-

''ब्रह्माविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोषो महानयम्।
निरवद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते॥

(अर्थात् वस्तुस्वरूप) मानते हैं तो अदृष्ट (पुण्य-पाप रूप कर्म), दोष, संस्कार, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र आदि की भी स्वप्न, इन्द्रजाल आदि की तरह मिथ्या प्रतीति के हेतुपने से प्राप्ति होगी। उस अविद्या को वस्तुस्वरूप से स्वीकारने पर द्वैत सिद्धि का प्रसंग आ जायेगा। अविद्या यदि सत् और असत् दोनों रूपों से कथन योग्य नहीं है तो अविद्या संसार दशा में कैसे है? जैसा कि आप कहते हैं कि संसार अविद्या दशा का विलास है। वह अविद्या मुक्तिदशा में तो है नहीं क्योंकि मुक्ति अविद्या की निवृत्ति से होती है, इस प्रकार आप शिष्यों को समझाते हैं। ऐसी स्थिति में अविद्या का सत् और असत् रूप से कहना संभव है, किन्तु अविद्या के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं होने पर शिष्यों की मोक्ष के लिए प्रवृत्ति कैसे हो सकती है क्योंकि संसार और मोक्ष के स्वरूप का ही उन्हें ज्ञान नहीं हो सकेगा। अविद्या अनिर्वाच्य (कथन अयोग्य) है, इस प्रकार कहो तो अविद्या के स्वरूप का कथन स्ववचन विरुद्ध सिद्ध होता है।

''मैं तो जीवन पर्यन्त के लिए मौन व्रत धारण किये हूँ, मेरे पिता ब्रह्मचारी हैं। मेरी माता बांझ है फिर भी आप कामदेव के समान अनुपम हैं।''

इत्यादि वचनों की तरह स्ववचन विरोध आता है। और अनिर्वाच्य शब्द से अविद्या का कथन नहीं करने पर अनर्थक प्रलाप करने के कारण दण्ड स्थान की प्राप्ति होती है।

३५. यहाँ अद्वैतवादी कहता है कि हमारे लिए अविद्या अवस्तुभूत है। प्रमाण की प्रवृत्ति वस्तु में ही होती है अवस्तु में नहीं। इसीलिए हम लोगों ने वस्तु वृत्ति की अपेक्षा करके अविद्या की व्यवस्था की है। वह कहा भी है-

''यदि ब्रह्म आपको अविद्या के समान इष्ट है, तब तो यह बहुत बड़ा दोष होगा, और विद्या को निर्दोष मानने पर अनर्थकता का प्रसंग आ जायेगा।

नाविद्यास्येत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते।
ब्रह्म[धारा]त्वविद्येयं न कथञ्चन युज्यते॥
यतोऽनुभवतोऽविद्या ब्रह्मास्मीत्यनुभूतिमत्।
अतो मानोत्थविज्ञानध्वस्ता साप्यन्यथात्मता॥
ब्रह्मण्यविदिते बाधान्नाविद्येत्युपपद्यते।
नितरां चापि विज्ञाते मृषाधीर्नास्त्यबाधिता॥
अविद्यावानविद्यां तां न निरूपयितुं क्षमः।
वस्तुवृत्तमतोऽपेक्ष्य ना विद्येति निरूप्यते॥
वस्तुनोऽन्यत्र मानानां व्यापृत्तिर्नहि युज्यते।
अविद्या च न वस्त्विष्टं मानाघातसहिष्णुतः॥
अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम्।
मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥"

[सम्बन्धवा० श्लो० १७५-८१]

३६. न चैवमप्रामाणिकायामविद्यायां कल्प्यमानायां कश्चिद्दोषः, तस्याः संसारिणः स्वानुभवा-

---

अविद्या नहीं है, इस प्रकार यदि अविद्या में ही रखकर के ब्रह्म की कल्पना की जाती है, तब ब्रह्मधारा तो यह अविद्या ही हुई किन्तु यह किसी प्रकार से ठीक नहीं बैठता है।

चूँकि अनुभूति करनेवाला अनुभव से मैं अविद्या ब्रह्म हूँ ऐसा कहेगा इसलिए मान (प्रमाण) से उत्पन्न विज्ञान से ध्वस्त हुई वह अविद्या भी अन्यथा स्वरूप वाली हुई।

ब्रह्म के नहीं जानने में बाधा होने से अविद्या है, इस प्रकार सिद्ध नही होता है और उस ब्रह्म को अच्छी तरह जान लेने पर भी मृषा (असत्य) बुद्धि उत्पन्न होती है, इसलिए इसमें कोई अबाधिता नहीं है।

अविद्या वाला उस अविद्या का निरूपण (कथन) करने में समर्थ नहीं है, इसलिए वस्तुस्थिति की अपेक्षा करके अविद्या नहीं है, इस प्रकार कहा जाता है।

वस्तु के सिवाय प्रमाणों का व्यापार नहीं बैठता है, और हम लोगों को प्रमाण के आघात में सहिष्णु होने से वस्तु इष्ट है, अविद्या इष्ट नहीं है।

अर्थात् वस्तु की सिद्धि ही जब नहीं होती है, तब उसमें प्रमाण क्या करेगा? और हम लोग किसी भी तरह प्रमाण का आघात सहन कर लें और मानें तो ऐसी अविद्या हमें इष्ट नहीं है।

तथा अविद्या (अज्ञान) के अविद्यापने में यह लक्षण घटित होता है तो अविद्यापना मानाघात की असहिष्णुता को असाधारण लक्षण माना जावे (सारांश-अविद्या में प्रामाणिकता नहीं)।"

३६. इस प्रकार प्रमाण का विषय नहीं होते हुए भी उस अविद्या की कल्पना करने में कोई दोष नहीं है। क्योंकि उस अविद्या की संसारियों के अपने अनुभव के आश्रय से सिद्धि होती है।

श्रयत्वात्। द्वैतवादिन एव दृष्टादृष्टार्थप्रपञ्चस्य प्रमाणबाधितस्य कल्पनायामनेकविधायां बहुविध-दोषानुषंगात्। तदप्युक्तम्-

''त्वत्पक्षे बहुकल्प्यं स्यात् सर्वं मानविरोधि च।
कल्प्याऽविद्यैव मत्पक्षे सा चानुभवसंश्रया॥''

[सम्बन्ध वा० श्लो० १८२] इति

३७. इति कश्चित्, सोऽपि न प्रेक्षावान्, सर्वप्रमाणातीतस्वभावायाः स्वयमविद्यायाः स्वीकरणात्। नहि प्रेक्षावान् सकलप्रमाणातिक्रान्तरूपामविद्यां विद्यां वा स्वीकुरुते।

३८. न च प्रमाणानामविद्याविषयत्वमयुक्तम्; विद्यावदविद्याया अपि कथंचित् वस्तुत्वात्। तथा विद्यात्वप्रसंगः, इति चेत्; न किंचिदनिष्टम् ''यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।'' [सिद्धिवि० १/१९] इत्यकलङ्कदेवैरप्युक्तत्वात्। बहिःप्रमेयापेक्षया तु कस्यचित् संवेदनस्याविद्यात्वं बाधकप्रमाणा-वसेयं कथमप्रमाणाविषयः, तद्बाधकं पुनरर्थान्यथात्वसाधकमेव प्रमाणमनुभूयत इति वस्तुवृत्तम-पेक्ष्यैवाविद्या निरूपणीया।

द्वैतवादियों का ही दृष्ट, अदृष्ट संसार प्रमाण से बाधित है और उसकी अनेक प्रकार की कल्पनाओं में अनेक प्रकार के दोष आते ही हैं। वह भी कहा है-

''आपके पक्ष में कल्पित (कहे गये) सभी अभिप्राय मान या प्रमाण के विरोधी हैं तथा मेरे पक्ष में जो कल्पित अविद्या ही है वह प्रामाणिक तथा अनुभव सिद्ध है।

३७. इस प्रकार कहने वाला भी विचार कुशल नहीं है क्योंकि वह स्वयं समस्त प्रमाणों से अतीत स्वभाव वाली अविद्या को स्वीकारता है। कोई भी विवेकवान् जीव समस्त प्रमाण से रहित स्वरूप वाली अविद्या अथवा विद्या को स्वीकार कर नहीं सकता है।

३८. और प्रमाणों के लिए अविद्या को विषय मानना अनुचित नहीं है अर्थात् उचित ही है। क्योंकि विद्या के समान अविद्या भी कथंचित् वस्तुस्वरूप है।

शंका-इस प्रकार से तो अविद्या को भी विद्यापन का प्रसंग आ जायेगा ?

समाधान -इसमें हमें कुछ भी अनिष्ट नहीं है क्योंकि ''जिस वस्तु की जिस तरह जहाँ पर अविसंवादता रहती है वहीं पर उसी वस्तु में वैसे ही प्रमाणता होती है।'' इस प्रकार अकलंकदेव के द्वारा सिद्धिविनिश्चय १/१९ में कहा है। अर्थात् अन्तःप्रमेय की अपेक्षा से कोई अविद्या है ही नहीं।

बहिःप्रमाण की अपेक्षा से तो किसी संवेदन का अविद्यापन भी बाधक प्रमाण से जाना जाता है ऐसी स्थिति में अविद्या अप्रमाण का अविषय कैसे हो सकती है? वह बाधक पुनः पदार्थ के अन्यथापने का साधक ही है, यह भी प्रमाण से ही अनुभव में आता है, इस प्रकार वस्तु स्थिति की अपेक्षा करके ही अविद्या का निरूपण करना योग्य है।

३९. न च कथंचिद्विद्यावतोऽप्यात्मनः प्रतिप्रत्तुरविद्यावत्त्वं विरुध्यते यतोऽयं महान् दोषः स्यात्। नाप्यविद्याशून्यत्वे कथंचिद्विद्यानर्थक्यं प्रसज्यते, तत्फलस्य सकलविद्यालक्षणस्य भावात्।

४०. न चाविद्यायामेव स्थित्वा ''अस्येयमविद्या'' इति प्रकल्प्यते, सर्वस्य विद्यावस्थायामेव अविद्येतरविभागविनिश्चयात्, स्वप्नाद्यविद्यादशायां तदभावात्। ततश्चात्माद्वारैवाविद्या अयुक्तिमती। यस्मादनुभवात् ''अविद्यावानहमस्मि'' इत्यनुभववानात्मा तत् एव कथंचित् प्रमाणोत्थविज्ञानाबाधिताद-विद्यापि सैवेत्यात्मता-विरोधाभावात्। न चात्मनि कथंचिद् विदितेऽप्यविद्येति नोपपद्यते, बाधाविरोधात्। कथंचिद्विज्ञातेऽपि वाऽविद्येति नितरां घटते। विदितात्मन एव तद्बाधकत्वविनिश्चितेः कथंचिद्बाधिताया बुद्धेर्मृषात्वसिद्धेः।

४१. न च कथंचिदविद्यावानेव नरस्तामविद्यां निरूपयितुं क्षमः, सकलप्रेक्षावद्-व्यवहारविलोपात्। यदपि प्रमाणाघात-सहिष्णुत्वमसाधारणं लक्षणमविद्यायाः, तदपि प्रमाणसामर्थ्यादेव निश्चेतव्यमिति न प्रमाणातिक्रान्ता काचिदविद्या नाम, यदभ्युपगमे ब्रह्माद्वैतं न विरुद्ध्यते।

[इति पुरुषाद्वैतशासनपरीक्षा]

---

३९. आत्मा को जाननेवाले किसी विद्यावान पुरुष के कथंचित् अविद्यात्व विरोध को प्राप्त नहीं है जिससे कि यह महान दोष हो जाये और अविद्या शून्य किसी पुरुष में कथंचित् विद्या की अनर्थता का प्रसंग भी नहीं आता है क्योंकि अविद्या से रहित होने का फल समस्त विद्या की प्राप्ति है।

४०. और अविद्या में ही स्थित होकर ''यह इसकी अविद्या है'' इस प्रकार की कल्पना नहीं की जाती है क्योंकि सभी को विद्या की अवस्था में ही अविद्या और विद्या के विभाजन का निश्चय हो जाता है तथा स्वप्न आदि अविद्या की दशा में ''यह इसकी अविद्या है'' इस प्रकार की कल्पना का अभाव होता है और उससे स्वयं के द्वारा ही अविद्या अयुक्त स्वरूप वाली होती है इसलिए जिस अनुभव से आत्मा को यह अनुभव होता है कि ''मैं अविद्यावान् हूँ'' वह अनुभव ही कथंचित् प्रमाण से उत्पन्न विज्ञान से अबाधित होने के कारण से अविद्या भी वह ही है, इस प्रकार उसमें आत्मपने के विरोध का अभाव आता है। और कथंचित् आत्मा का ज्ञान होने पर भी अविद्या नहीं है, इस प्रकार कहना नहीं बनता है क्योंकि बाधा का विरोध है। अथवा आत्मा कथंचित् विज्ञात हो जाने पर भी यह अविद्या है, इस प्रकार स्पष्ट घटित होता है क्योंकि प्रबुद्धात्मा को ही अविद्या के बाधकपने का निश्चय होता है। कथंचित् बाधित बुद्धि का मृषा (झूठा) पन तो सिद्ध ही होता है।

४१. और कथंचित् अविद्यावान् मनुष्य ही उस अविद्या का निरूपण करने में समर्थ नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में सभी विचारवानों के व्यवहार का ही विलोप हो जायेगा। यद्यपि प्रमाणों के आघात को सहन करना ही अविद्या का असाधारण लक्षण है, फिर भी प्रमाण की सामर्थ्य से ही अविद्या के स्वरूप का निश्चय करना चाहिए। इसलिए प्रमाणों से अतिक्रान्त अर्थात् अप्रमाणभूत कोई अविद्या नहीं है जिसको स्वीकारने पर ब्रह्माद्वैत विरोध को प्राप्त न हो।

[इस प्रकार पुरुषाद्वैतशासन परीक्षा समाप्त हुई]

२.
शब्दाद्वैतशासनपरीक्षा

४२. तदेतेन शब्दाद्वैतमपि निरस्तम्, पुरुषाद्वैतवत्तस्यापि निगदितदोषविषयत्वसिद्धेः। प्रक्रियामात्र-भेदात्तदव्यवस्थानुपपत्तेः, स्वपक्षेतरसाधकबाधकप्रमाणाभावाविशेषात्, स्वतः सिद्ध्ययोगाद्गत्यन्तरा-भावाच्चेत्यलमतिप्रसंगिन्या कथया। सर्वथैवाद्वैतस्य दृष्टेष्टविरुद्धत्वेनासत्यत्वस्य व्यवस्थितत्वात्।

ब्रह्माविद्याप्रमापायात् सर्वं वेदान्तिनां वचः।
भवेत्प्रलापमात्रत्वान्नावधेयं विपश्चिताम्॥
ब्रह्माद्वैतमतं सत्यं न दृष्टेष्टविरोधतः।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्येति निश्चितम्॥

[इति शब्दाद्वैतशासनपरीक्षा]

---

२. शब्दाद्वैतशासन-परीक्षा

४२. इसलिए इस प्रकार पुरुषाद्वैत के निरसन से शब्दाद्वैत का भी निराकरण हो जाता है क्योंकि पुरुषाद्वैत के समान शब्दाद्वैत के भी पुरुषाद्वैत में कहे गये दोष उन्हीं हेतुओं से सिद्ध होते हैं। प्रक्रिया मात्र के भेद से उसमें कोई अव्यवस्था की सिद्धि भी नहीं होगी। स्वपक्ष के साधक प्रमाण और पर पक्ष के बाधक प्रमाण का अभाव होने में इस परीक्षा में पुरुषाद्वैत शासन की परीक्षा से कोई विशेषता नहीं है। स्वतः सिद्धि का अयोग होने से अर्थात् स्वयं ही इस शासन की परीक्षा संभव नहीं है तथा अन्य किसी शरण का अभाव होने से अतिप्रसंग करने वाली इस कथा से विराम हो।

सर्वथा अद्वैतशासन प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण असत्यपने से ही व्यवस्थापित होता है।

ब्रह्म की अविद्या का प्रमाण से अपाय या अभाव सिद्ध होने के कारण और प्रलाप मात्र कथन होने से वेदान्तियों के सारे वचन बुद्धिमानों के लिए धारण करने योग्य नहीं होने चाहिए। इसलिए सर्वथा ब्रह्माद्वैत मत सत्य नहीं है क्योंकि उसे मानने पर प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों से विरोध आता है और उस ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त से स्याद्वाद को कोई आघात नहीं है यह निश्चित हो जाता है।

[इति शब्दाद्वैतशासनपरीक्षा]

३.
विज्ञानाद्वैतशासन-परीक्षा

तथा विज्ञानाद्वैतशासनं दृष्टेष्टविरुद्धम्,

[पूर्वपक्षः]

१. तथा हि-तावदिदं खलु विज्ञानाद्वैतिनामिष्टम्, अन्तरङ्गस्य स्वसंविदितज्ञानस्यैव वस्तुता न तु बहिरङ्गस्यार्थस्य, जडस्य प्रतिभासायोगात्, वेद्यवेदकलक्षणस्य परपरिकल्पितस्य व्यभिचारित्वात्।

२.[तत्र] तावत्सौत्रान्तिकपरिकल्पिततज्जन्म-ताद्रूप्यतदध्यवसायाः न प्रत्येकं वेद्यवेदकलक्षणम्; चक्षुषा समानार्थसमनन्तरवेदनेन शुक्तिकायां रजताध्यवसायेन च व्यभिचारात्। सह वा समानार्थसमनन्तर-ज्ञानेन, कामलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानसमनन्तरज्ञानेन च व्यभिचारात्।

---

३. विज्ञानाद्वैतशासन परीक्षा

उसी प्रकार विज्ञानाद्वैतशासन भी दृष्ट-इष्ट प्रमाण से विरुद्ध है।

[पूर्वपक्ष]

१. विज्ञानाद्वैत वादियों को यह इष्ट है कि-अन्तरंग स्वसंविदित ज्ञान की ही वस्तुस्थिति है, बहिर्जगत् के पदार्थों की नहीं क्योंकि जड़ पदार्थों का प्रतिभास अनुचित है। अन्य मत में स्वीकार किया गया वेद्यवेदक भाव लक्षण व्यभिचार दोष से सहित है।

''वेदान्तियों के समस्त वचन ब्रह्म, अविद्या, प्रमा का नाश करने वाले होने से प्रलापमात्र हैं और विद्वानों के द्वारा अवधारित करने योग्य नहीं हैं। ब्रह्माद्वैत मत दृष्ट-इष्ट विरोध से सत्य सिद्ध नहीं होता है। इससे स्याद्वाद का घात भी नहीं होता है, यह निश्चित होता है।''

[इस प्रकार शब्दाद्वैतशासन परीक्षा समाप्त हुई]

२. उसमें सौत्रान्तिकों के द्वारा माना गया है कि उससे वह उत्पन्न हुआ है, वह उसके आकार वाला है और उसका अध्यवसाय (भाव) यह है। इस प्रकार प्रत्येक (क्रिया) में वेद्य-वेदक लक्षण नहीं है। चक्षु के द्वारा समान अर्थ का समनन्तर उत्पन्न ज्ञान तथा शुक्तिका (सीप) में चाँदी का अध्यवसाय (आभास) होता है इससे वेद्य-वेदक लक्षण में व्यभिचार दोष आता है। अथवा चक्षु के साथ समान अर्थ के समनन्तर ज्ञान से तथा कामल (पीलिया) आदि रोग से जिसकी आँख पीडित है उसे शुक्ल शंख में पीताकार ज्ञान तथा पूर्वज्ञान से उत्पन्न अनन्तर क्षणवर्ती ज्ञान से भी व्यभिचार आता है।

विशेषार्थ—वेद्य उस बाह्य अर्थ को कहा जाता है जिसका ज्ञान होता है और वेदक ज्ञान करने वाला आत्मा कहा जाता है। बाह्य अर्थ के आलम्बन से आत्मा में ज्ञान की प्रवृत्ति होती है, इसे ही वेद्य-वेदक सम्बन्ध कहा जाता है। विज्ञानाद्वैतवादी सौत्रान्तिक बौद्ध इस सम्बन्ध को भ्रम मानते हैं।

३.योगाङ्गीकृतं कार्यनिमित्तकारणत्वमपि न तल्लक्षणम्, चक्षुषानेकान्तात्। तथा अन्य परिकल्पित-कार्यकारणभावाख्यप्रभवयोग्यतादिकमपि न तल्लक्षणम्; तेनैव व्यभिचारात्। ततः कस्यचिदपि ग्राह्य-ग्राहकलक्षणस्यायोगात् सर्वं ग्राह्यग्राहकाकारज्ञानं भ्रान्तमेव। तथा प्रयोगः–यद्ग्राह्यग्राहकाकारं तत्सर्वं भ्रान्तम्, यथा स्वप्नेन्द्रजालादिज्ञानम्, तथा च प्रत्यक्षादिकमिति। न हि भ्रान्तप्रत्यक्षादिकं बहिरर्थस्य व्यवस्थापकम्, स्वप्नप्रत्यक्षादेरपि अर्थव्यवस्थापकत्वप्रसंगात्। एवं युक्त्या अनुपपद्यमाना बहिरर्था दृष्टा अपि न श्रद्धेयाः, ''युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे'' इति वचनात्।

४. बहिरर्थानामेवमसंभवात् संवित्तिरेव खण्डशः प्रतिभासमाना सकलवेद्यवेदकव्यवहाराय

उन्हें एक विज्ञानाद्वैत मानना है इसलिए वेद्य-वेदक लक्षण में दोष दिखाते हुए कहते हैं कि–यदि बाह्य अर्थ से ज्ञान उत्पन्न होता है तो सीप में चाँदी का आभास क्यों होता है? इसी तरह जिसे पीलिया आदि रोग है उसे सफेद शंख भी पीला क्यों दिखाई देता है? बाह्य अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न अनन्तर क्षणवर्ती ज्ञान भी वैसा ही आभास कराता है, जैसे पूर्व क्षण में। अतः इन उपर्युक्त कारणों से वेद्यवेदक लक्षण में सदोषता सिद्ध है।

३. विज्ञानाद्वैतवाद को योग कहते हैं। उस योग से स्वीकृत कार्य और उसका निमित्तकारण अर्थात् वेद्यवेदक भाव भी इसका लक्षण नहीं है क्योंकि नेत्र से अनेकान्त (व्यभिचारी) दोष आता है। तथा अन्य लोगों से परिकल्पित कार्य कारण भाव संज्ञा से उत्पन्न योग्यता आदि भी उसका लक्षण नहीं है क्योंकि चक्षु आदि से ही व्यभिचार आता है। इसलिए किसी भी ग्राह्य-ग्राहक लक्षण की बात नहीं बनती है। पूरा ग्राह्य-ग्राहक आकार है वह सब भ्रान्त है जैसे स्वप्न, इन्द्र जाल आदि का ज्ञान होता है। उसी तरह प्रत्यक्ष आदि भी भ्रान्त हैं। और भ्रान्तरूप प्रत्यक्ष आदि अर्थ के व्यवस्थापक नहीं है, यदि ऐसा होवे तो स्वप्न प्रत्यक्ष आदि भी पदार्थ के व्यवस्थापक हो जायेंगे। इस प्रकार युक्ति से प्राप्त नहीं होने वाले बाह्य पदार्थ दिखाई देने पर श्रद्धा योग्य नहीं हैं।

''जो वस्तु युक्ति से घटित नहीं होती है उसे मैं देखकर भी श्रद्धा नहीं करता हूँ।'' इस प्रकार कहा गया है।

विशेषार्थ–बौद्ध दार्शनिकों के चार भेद दार्शनिक विकास की दृष्टि से हैं। १. वैभासिक (बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद) २. सौत्रान्तिक (बाह्यार्थानुमेयवाद) ३. योगाचार (विज्ञानवाद) ४. माध्यमिक (शून्यवाद)। सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थ को प्रत्यक्ष से न मानकर अनुमान से मानते हैं किन्तु योगाचार उनसे भी एक कदम आगे है, जो कहता है कि बाह्य अर्थ जब प्रत्यक्ष ही नहीं है, तो उसे मानने की आवश्यकता भी क्या है? बाह्य अर्थ की सत्ता ज्ञान पर आधारित है, इसलिए ज्ञान ही वास्तविक है। वासना के कारण विज्ञान का बाह्य अर्थ रूप से प्रतिभास होता है, जैसे भ्रान्ति से एक चन्द्रमा की जगह दो चन्द्रमा का प्रतिभास होता है।

४. इस प्रकार बाह्य पदार्थ संभव ही नहीं है, मात्र संवित्ति (विज्ञान) से ही सभी पदार्थ खण्ड-

कल्प्यते। तदुक्तम्–

''नावनिर्न सलिलं न पावको न मरुन्न गगनं न चापरम्।
विश्वनाटकविलाससाक्षिणी संविदेव परितो विजृम्भते॥''

इति

अन्यच्च,

''एक संविदि विभाति भेदधीर्न्नीलपीतसुखदुःखरूपिणी।
निम्ननाभिरियमुन्नतस्तनी स्त्रोति चित्रफलके समे यथा॥''

इति

५. तदेवं बहिरर्थाख्यद्वितीयरहितत्वादद्वैतमनुभवसिद्धविज्ञान-मात्रमेव व्यवतिष्ठत इति।

[उत्तरपक्षः]

६. तदेतत् विज्ञानाद्वैतं प्रत्यक्षविरुद्धम्; विज्ञानरूप अन्तरर्थवद् बहिरर्थस्यापि नीलादेः परमार्थस्य प्रत्यक्षेणोपलक्षणात्। भ्रान्तं तत्प्रत्यक्षमिति चेत्ः, न, बाधकाभावात्। उक्त एव वेद्यवेदकलक्षणाभावो बाधक इति चेत्, तावदेवं वदता योगाचारेण विज्ञानानां क्षणिकत्वमनन्यवेद्यत्वं नानासंतानत्वमनुमानेनैव व्यवस्थापनीयम्, स्वसंवेदनात्तदसिद्धेः; संविदां क्षणिकत्वेनाऽनन्यवेद्यत्वेन नानासंतानत्वेन नित्यत्वेन च सर्ववेद्यत्वेनैकत्वेन परमब्रह्मणा ज्ञानवादिना इव स्वसंवेदनाभावात्। अन्यथा ततो ब्रह्मसिद्धेरपि

खण्ड होकर प्रतिभासित होते हैं और यही संवित्ति समस्त वेद्य-वेदक व्यवहार के लिए कल्पना में आती है। कहा है-''न पृथ्वी है, न जल है, न अग्नि है, न हवा है, न आकाश है और न कोई अन्य पदार्थ है। इस समस्त विश्व के नाटकों के विलास की साक्षी एक मात्र संवित् (विज्ञान) है, वही चारों ओर फैला हुआ है।''

और भी कहा है-''एक संवित्ति में ही नीला, पीला, सुख, दुःख, यह निम्न नाभि, यह उन्नत स्तन इत्यादि भेद बुद्धि समतल चित्र फलक में भेद की तरह दिखाई देती है।''

५. इस प्रकार बाह्य अर्थ रूप कोई दूसरा नहीं होने से अनुभव सिद्ध विज्ञानमात्र अद्वैत ही स्थापित होता है।

[उत्तर पक्ष]

६. वह यह विज्ञानाद्वैत प्रत्यक्ष विरुद्ध है। विज्ञान रूप अन्तरङ्ग अर्थ की तरह नील आदि बाह्य अर्थ भी परमार्थ से हैं क्योंकि प्रत्यक्ष से देखे जाते हैं। यदि कहो कि वह प्रत्यक्ष भ्रान्त है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि बाधक प्रमाण का इस विषय में अभाव है। यदि कहो कि -कहा हुआ वेद्यवेदक लक्षण का अभाव ही बाधक है तो फिर इस प्रकार कहने वाले विज्ञानाद्वैत वादी योगाचार को क्षणिकत्व, अनन्यवेद्यत्व, नाना संतानत्व वाले विज्ञानों की सिद्धि अनुमान से ही करनी चाहिए क्योंकि स्वसंवेदन से तो वह सिद्ध नहीं हो सकता है। क्षणिक रूप से, अभिन्न रूप से वेद्य होने से, अनेक संतान रूप से और नित्य रूप से होने वाले विज्ञानों का एक रूप से सभी को जानने वाले परमब्रह्म ज्ञान वादी की तरह स्वसंवेदन का अभाव है। अन्यथा उस स्वसंवेदन से ब्रह्म सिद्धि भी

दुर्निवारत्वात्। ततः क्षणिकत्वादि-व्यवस्थापनमनुमानेनैवास्तु। तथा च क्षणिकत्वादौ कथंचिद्वेद्यलक्षणं यदि व्यवतिष्ठेत् तदा प्रकृतसंविदां क्षणिकत्वादिसाधनं लैङ्गिकज्ञानेन कृतं स्यान्नान्यथा।

७. न चानुक्तदोषं वेद्यलक्षणमस्ति, विज्ञानवादिना तज्जन्मादेरनैकान्तिकत्वदोषवचनात्। संवित्क्षणिकत्वादावनुमान-वेदनस्य तत्संभवे बहिरर्थे तदसंभवोऽभिधेयः सर्वथा विशेषाभावात्।

८. अत्रायं प्रयोगः-विमत्यधिकरणभावापन्नं ज्ञानं साक्षात्परम्परया वा स्वरूपव्यतिरिक्तार्थालम्बनम्; ग्राह्यग्राहकाकारत्वात्; संतानान्तराद्यनुमानवत्। विप्लवज्ञानग्राह्यग्राहकाकारित्वेन व्यभिचार इति चेत्; न; संतानान्तरादिसाधनस्यापि व्यभिचारप्रसंगात्। न हि व्यापारव्याहारभे(द)निर्भासो विप्लुतो नास्ति, येना-व्यभिचारिहेतुः स्यात्। यदि जाग्रद्दशाभाविसत्याभिमतव्यापारादिहेतुरव्यभिचारी स्यात् तर्हि तथाविधग्राह्य-ग्राहकाकारकत्वहेतुरप्यव्यभिचारी भवेत्, तथैव विवक्षितत्वात्।

कौन रोक पाएगा ? इसलिए क्षणिकत्व आदि की सिद्धि अनुमान से ही होवे। इस प्रकार क्षणिकत्व आदि में कथंचित् वेद्यलक्षण यदि सिद्ध होवे तो प्रकृत विज्ञानों की क्षणिकत्व आदि की सिद्धि अनुमान ज्ञान से ही की जायेगी अन्यथा नहीं होगी।

७. वेद्य-वेदक का लक्षण अनुक्त (नहीं कहे गये) दोष भी नहीं है। विज्ञान वादी तज्जन्य अर्थात् पूर्वज्ञान से उत्पन्न अनन्तरज्ञान आदि में भी अनैकान्तिक दोष कहता है। विज्ञान अद्वैत, क्षणिकत्व आदि में अनुमान ज्ञान बाह्य अर्थ के सम्भव होने पर ही है, अन्यथा वह कहने योग्य पदार्थ असम्भव है, क्योंकि दोनों में विशेषता का सर्वथा अभाव है।

विशेषार्थ—विज्ञानाद्वैतवादी जब वेद्यवेदक लक्षण वाला ज्ञान नहीं मानता है, तो उसे अपने लिए स्वसन्तान की सिद्धि करना भी कैसे बनेगी? तथा स्वसन्तान (विज्ञान की सन्तति) में क्षणिकत्व आदि की सिद्धि भी अनुमान ज्ञान सम्भव होने पर ही बनेगी। जब तुम्हारे लिए अनुमान ज्ञान होगा, तो वह वेद्यवेदक भाव सम्भव होने पर ही होगा और ऐसा हो जाने पर बाह्य पदार्थों में वह वेद्यवेदक भाव अपने आप घटित हो जायेगा, क्योंकि अनुमान ज्ञान में दोनों ओर विशेषता (भिन्नता) का अभाव है।

८. यहाँ अनुमान प्रयोग इस प्रकार है-विमत्यधिकरण भाव को प्राप्त ज्ञान साक्षात् अथवा परम्परा से अपने स्वरूप से भिन्न अर्थ का आलम्बन लेता है, क्योंकि वह ज्ञान ग्राह्य-ग्राहक आकार रूप होता है जैसे सन्तानान्तर आदि अनुमान से उत्पन्न ज्ञान होता है। यदि कहो कि विप्लव ज्ञान (भ्रान्तज्ञान) में ग्राह्य-ग्राहक आकारिपने से व्यभिचार आता है तो वह भी नहीं है क्योंकि ऐसा कहने पर सन्तानान्तर आदि साधन के भी व्यभिचार का प्रसंग आ जायेगा। व्यापार, व्यवहार में भेद को दिखाने वाला ज्ञान विप्लुत तो होता नहीं है जिससे हेतु निर्दोष है।

यदि जाग्रत् दशा में होने वाला सत्याभिमत व्यापार आदि हेतु अव्यभिचारी है तो फिर उसी प्रकार ग्राह्य-ग्राहक आकारपने का हेतु भी अव्यभिचारी है क्योंकि उसी प्रकार की यहाँ भी विवक्षा है।

विशेषार्थ—विज्ञानाद्वैतवादी सर्वथा बाह्य पदार्थ का अभाव मानता है। उसका कहना है कि

९. अथ सत्याभिमतज्ञानेन वासनाभेदो गम्यत इति चेत्; तदन्यत्रापि समानम्। यथैव हि जाग्रद्दशायां बहिरर्थवासनाया दृढतमत्वात् तदाकारज्ञानस्य सत्यत्वाभिमानः; स्वप्नादिदशायां तु तदवासनाया दृढत्वाभावात्तद्वेदनस्यासत्यत्वाभिमानो लोकस्य न परमार्थतो बहिरर्थः सिद्ध्यतीति वासनाभेदो गम्यते, तथानुपप्लवदशायां संतानान्तरज्ञानस्य वासनाया दृढतमत्वात् सत्यताभिमानो, अन्यत्र तददार्ढ्याद-सत्यताव्यवहार इति वासनाभेदो गम्यताम्, न तु संतानान्तरम्। तदनभ्युपगमे स्वसंतानक्षणक्षयादिसिद्धिः

बाह्य अर्थ के अभाव में मात्र विज्ञान ही सब कुछ है। जो आप जैन लोग ज्ञान और ज्ञेय का जो सम्बन्ध बताते हो, वह भ्रान्त है। ज्ञेय जैसी कोई चीज नहीं है। वह अभ्रान्त ज्ञान को प्रमाण कहता है तथा इन ज्ञेयों से पृथक् विज्ञान सन्तान को सत्य मानता है। अनुमान प्रयोग द्वारा जैनाचार्य इसी विज्ञानाद्वैतवाद में दूषण दिखाने के लिए यह तर्क रखते हैं कि ज्ञान अपने से भिन्न अर्थ को ग्रहण करता है, क्योंकि वह ग्राह्याकार और ग्राहकाकार है। विज्ञानाद्वैतवादी विज्ञान सन्तान को मानता है अर्थात् विज्ञान में व्यापार और व्याहार के प्रतिभास से सन्तानान्तर की सिद्धि होती है। जैनाचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार प्रतिभास से सन्तानान्तर की सिद्धि की जाती है, उसी प्रकार ग्राह्याकार और ग्राहकाकार के प्रतिभास से ज्ञान से भिन्न पदार्थ की सिद्धि भी होती है। विज्ञानाद्वैतवादी तर्क देता है कि विप्लव ज्ञान अर्थात् विरुद्ध या विपरीत ज्ञान में ही ग्राह्याकार-ग्राहकाकार होता है, इसलिए आपका अनुमान सदोष है तो जैनाचार्य कहते हैं कि तुम भी तो सन्तानान्तर को साधन मानकर विज्ञानाद्वैत की सिद्धि करते हो, फिर वह भी सदोष होगा। बाह्य अर्थ के अभाव में सन्तानान्तर रूप साधन का प्रयोग भी भ्रान्त होने से विज्ञानाद्वैतवाद की सिद्धि नहीं कर सकेगा। दूसरी बात बाह्य अर्थ के अभाव स्वपक्ष की सिद्धि के लिए कोई साधन और परपक्ष की बाधा के लिए दूषण का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता है। फिर भी यदि किया जाता है तो फिर जाग्रत दशा में होने वाले सत्य ज्ञान और स्वप्न दशा में होने वाले भ्रान्त ज्ञान में कोई भेद नहीं रहेगा। प्रत्यक्ष से व्यवहार में होने वाला अनेक पदार्थों का भिन्न-भिन्न ज्ञान भ्रान्त नहीं है। जिस कारण से ग्राह्य-ग्राहकाकार वाला हेतु भी निर्दोष है। जब जाग्रत दशा में होने वाले व्यापारों में हेतु निर्दोष सिद्ध है तो ग्राह्य-ग्राहक आकार हेतु में निर्दोषता भी सिद्ध है।

९. यदि सत्याभिमत ज्ञान से वासना भेद जाना जाता है, इस प्रकार मानते हो तो अन्यत्र बाह्य अर्थ में भी ऐसा ही मानना चाहिए। इसी को स्पष्ट करते हैं –जिस प्रकार जाग्रत् दशा में बाह्य अर्थ वासना की अत्यन्त दृढ़ता होने से तदाकार ज्ञान के सत्यपने का अभिमान होता है। स्वप्न आदि दशा में तो उस वासना (संस्कार) की दृढ़ता का अभाव होने से उस ज्ञान के असत्यपने का अभिमान लोगों के बाह्य पदार्थ की सिद्धि परमार्थ से नहीं करता है। इस प्रकार वासनाभेद जाना जाता है। उसी प्रकार उपप्लव से रहित दशा में संतानान्तर ज्ञान की वासना दृढ़तम होने के कारण सत्यता का अभिमान होता है और अन्यत्र उस वासना की दृढ़ता नहीं होने से असत्यता का व्यवहार होता है, इस प्रकार वासना भेद जानना चाहिए किन्तु सन्तानान्तर का भेद नहीं जानना चाहिए। उस सन्तानान्तर को

कथमभ्युपगम्यते; ततः सुदूरमपि गत्वा किंचिद्वेदनं स्वेष्टतत्त्वावलम्बनमेषितव्यम्। तस्मादयं मिथ्यादृष्टिः परप्रत्यायनाय शास्त्रं विदधानः परमार्थतः संविदानो वचनं तत्त्वज्ञानं च प्रतिरुणद्धि इति न किंचिदेतत्। तदेवं वेद्यवेदकाकारत्वसाधनं बहिरर्थवेदनस्य स्वरूपव्यतिरिक्तालम्बनत्वं साधयतीति बाधकबाधनात् न बाधको वेद्यवेदकलक्षणाभावः।

१०. नन्वस्त्येव बहिरर्थप्रत्यक्षस्य बाधकम्, नीलतज्ज्ञानयोरभेदः सहोपलम्भनियमात्, द्विचन्द्रवत्,

---

स्वीकार नहीं करने पर अन्वयज्ञान की परम्परा में क्षण क्षय आदि की सिद्धि कैसे स्वीकारी जायेगी। इसलिए बहुत दूर जाकर भी अर्थात् बहुत प्रयास करने पर भी अपने इष्ट तत्त्व का अवलम्बन करने वाला किंचित् वेदन (ज्ञान) स्वीकार करना चाहिए। इसलिए यह मिथ्यादृष्टि दूसरों को समझाने के लिए शास्त्र की रचना करता हुआ परमार्थ से सम्यक् जानने वाले वचन और तत्त्वज्ञान को निरस्त करता है। इस प्रकार विज्ञानाद्वैत कुछ भी नहीं है। इस प्रकार बाह्य अर्थ ज्ञान के स्वरूप से भिन्न आलम्बन को वेद्यवेदक आकार रूप साधन साधता है क्योंकि बाधक रूप वेद्यवेदक लक्षण आपके विज्ञानाद्वैत में बाधा पहुँचाता है। यदि वेद्य-वेदक लक्षण का अभाव है तो फिर कोई बाधक नहीं रहेगा।

विशेषार्थ—यदि विज्ञानाद्वैतवादी यह कहे कि ज्ञान में ग्राह्याकार-ग्राहकाकार का प्रतिभास वासनाभेद से होता है किसी बाह्य पदार्थ के सद्भाव से नहीं होता है, तो फिर तुम्हें भी सन्तानान्तर का प्रतिभास वासना भेद से ही मानना पड़ेगा। वास्तव में सन्तानान्तर के सद्भाव से नहीं। यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी कहता है कि जिस प्रकार बाह्य पदार्थ की वासना अत्यन्त दृढ़ होने से जाग्रत अवस्था में बहिरर्थाकार रूप जो ज्ञान होता है वह सत्य है और स्वप्न अवस्था में बाह्य अर्थ की वासना दृढ़ न होने से जो ज्ञान होता है वह असत्य माना जाता है। इस प्रकार बाह्य अर्थ का सद्भाव न होने पर भी वासना भेद से सब ज्ञान हो जाता है। यदि तुम इस प्रकार कहते हो तो जैनाचार्य कहते हैं कि उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में वासना के दृढ़ होने से सन्तानान्तर का जो ज्ञान होता है, वह सत्य है और स्वप्न अवस्था में वासना के दृढ़ नहीं होने से सन्तानान्तर का जो ज्ञान होता है वह असत्य है। ऐसा आप भी मान लो फिर सन्तानान्तर का सद्भाव भी वासनाभेद से मान लेना चाहिए। सन्तानान्तर के सद्भाव से नहीं। ऐसी स्थिति में सन्तानान्तर की सिद्धि नहीं होने से आपके क्षयक्षयी मत में अन्वय ज्ञान की (सन्तान की) सिद्धि करना कोसों दूर की बात हो जायेगी। इसलिए ऐसा ज्ञान आपको मानना ही पड़ेगा जो इष्ट तत्त्व का अवलम्बन करता हो। इस प्रकार के ज्ञान का सद्भाव मानने पर ज्ञान बाह्य पदार्थ का अवलम्बी है, ऐसे ज्ञान की सिद्धि में कोई बाधक प्रमाण नहीं है। देखा जाए तो बाह्य पदार्थ के होने पर ही ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता होती है। जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञात अर्थ की प्राप्ति हो वह प्रमाण है और जिससे अर्थ की प्राप्ति ही न हो वह अप्रमाण है, यह सुतरां सिद्ध होता है।

१०. **शंका**—बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष का बाधक होता ही है। नील और उसका ज्ञान इन दोनों में अभेद है क्योंकि अर्थ और ज्ञान दोनों एक साथ उपलब्ध होते हैं जैसे दो चन्द्रमा के ज्ञान में प्रतिभासित

इत्यनुमानस्य तद्बाधकत्वादिति चेत्; न; हेतोर्विरुद्धत्वात्। यौगपद्यार्थे सहशब्दे तन्नियमस्याभेदविरुद्धे नाना (त्वे) भावात्। अभेदेऽपि चन्द्रद्वितये भाव इति चेत्; न; तत्रापि यथा प्रतिभासं भेदभावात्। तथा तत्त्वमभेदोऽपि इति चेत्; न; यथातत्त्वं सहोपलम्भस्यापि अभावात् एवं दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः स्यात्। तन्मात्रस्य हेतुत्वे तस्य भेदमात्र एव भावाद्विरुद्ध एव हेतुः स्यात्। तथा–असिद्धश्चायं हेतुः; यतो नर्तक्याद्येकार्थसंगतदृष्टयः परचित्तविदो? वा नावश्यं तद्बुद्धिं तदर्थं वा संविदन्तीति हेतोरसिद्धिः, नियमस्यासिद्धेः। नर्तकीरूपस्यापि बहुत्वान्न तन्नियमासिद्धिरिति चेत्; न; तद्रूपस्यैकत्वात्। तत्र सर्वेषां सभासमवायिनां एकवाक्यताप्रतिपत्तेः। व्यामोहादेव कुतश्चित्तत्र तेषामेकवाक्यत्वं वस्तुतो नानैव तद्रूपमिति चेत्, कोशपानादेतत्प्रत्येतव्यं न प्रमाणतः कुतश्चिदपि तदभावात्।

होने वाले दो चन्द्रमा वस्तुतः पृथक् नहीं होते हैं किन्तु एक ही हैं। इस प्रकार अनुमान का वह प्रत्यक्ष बाधक है।

समाधान–नहीं, वह अनुमान प्रत्यक्ष का बाधक नहीं है क्योंकि हेतु में विरुद्धपना है। ''सहोपलम्भनियमात्'' इस हेतु में सह शब्द यौगपद्य अर्थ में हैं। इस हेतु की अभेद से विरुद्धता आती है क्योंकि अनेक भावों की प्राप्ति होती है।

शंका–अभेद में भी दो चन्द्रमा का भाव होता है?

समाधान–नहीं, उसमें भी जैसा प्रतिभास होगा, वैसा ही माना जायेगा, क्योंकि दो चन्द्र हैं, यह भेद स्पष्ट दिखाई देता है।

शंका–तो फिर तत्त्व उसी प्रकार का है और अभेद भी है, ऐसा कहना चाहिए।

समाधान–नहीं, तत्त्व उसी प्रकार का मानने पर तो ''सहोपलम्भ'' इस हेतु का भी अभाव हो जायेगा।

इसी प्रकार दृष्टान्त भी साध्य–साधन सम्बन्ध से रहित है। सहोपलम्भ नियम मात्र का हेतुत्व होने पर वह हेतु भेदमात्र की ही सिद्धि करता है जिससे यह हेतु विरुद्ध दोष वाला ही सिद्ध होता है।

उसी प्रकार यह हेतु असिद्ध भी है। चूँकि नर्तकी आदि के विषय में एकार्थ रूप से लगी दृष्टियाँ अथवा पर के मन को जानने वाले लोग उस बुद्धि को अथवा उस अर्थ को भी अवश्य नहीं जानते हैं, इस प्रकार सहोपलम्भ नियम की सिद्धि नहीं होने से हेतु भी असिद्ध होता है।

तथा नर्तकी के रूप में बहुत्व होने से उस नियम की असिद्धि नहीं है, ऐसा भी नहीं है क्योंकि उस नर्तकी के रूपों में भी एकत्व (अभेद) होता है। वहाँ सभा के सभी सदस्यों को एक वाक्यपने का ज्ञान होता है।

शंका–किसी व्यामोह के कारण ही वहाँ उन सभी सभासदों का एक वाक्यपना होता है वस्तुतः तो वह रूप भी अनेक होते हैं।

समाधान–फिर तो आपको सौगन्ध (शपथ) से ही इसकी सिद्धि करना चाहिए। किसी भी

११. अथ ''सर्वे प्रत्ययाः निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्'' [प्र० वार्तिकालं० पृ० ३५९] इत्यनुमानं प्रकृतबाधकमिति चेत्; न; प्रकृतसाध्यसाधनप्रत्यययोः स्वार्थालम्बनत्वाभावेन हेतोर्विज्ञान-मात्रसिद्धिः, हेतुसाध्ययोरभावात्। अथार्थवत्त्वे, ताभ्यामेव हेतोर्व्यभिचारात्। तदुक्तं भगवद्भिः, स्वामिभिः-

---

प्रमाण से इस विज्ञानाद्वैत की सिद्धि का अभाव ही होता है।

विशेषार्थ—विज्ञानाद्वैतवादी कहता है कि अर्थ और ज्ञान में अभेदपना अर्थात् एकपना है, क्योंकि अर्थ और ज्ञान की उपलब्धि एक साथ देखी जाती है। जैसे नील पदार्थ और नील ज्ञान भिन्न-भिन्न नहीं है। एक ही विज्ञान में भ्रान्ति के कारण अर्थ और ज्ञान की प्रतीति हो जाती है। वस्तुतः ''सहोपलम्भ नियम'' रूप हेतु के द्वारा ज्ञान और अर्थ में अभेदरूप साध्य की सिद्धि होती है। यहाँ अर्थ और ज्ञान धर्मी हैं। अभेद साध्य अथवा धर्म है।

सहोपलम्भ नियम यह हेतु है। द्विचन्द्र यह दृष्टान्त है। यहाँ देखा जाए तो हेतु, दृष्टान्त आदि भेद वचनों के द्वारा विज्ञानाद्वैत की सिद्धि कैसे कर रहा है, जबकि अनेक भेद वचन उपलब्ध हो रहे हैं। यही प्रतिज्ञा दोष और स्ववचन विरोध कहलाता है। **इसका हेतु भी सदोष है** क्योंकि सहोपलम्भ हेतु से ज्ञान और अर्थ में अभेद सिद्धि कैसे हो सकती है? जब हेतु युगपत् अर्थ में है अर्थात् पृथक् उपलब्ध नहीं है किन्तु एक साथ उपलब्ध है। यदि हेतु एक समय में उपलब्ध किया जाता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक क्षणवर्ती अनेक पुरुषों के ज्ञानों का भी एक समय में उपलम्भ होता है, फिर भी वे ज्ञान एक नहीं हैं। यदि हेतु पृथक् उपलब्ध नहीं होता है इस अर्थ के साथ है तो हेतु अभावरूप हुआ और साध्य भावरूप। भाव, अभाव में कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

इसका दृष्टान्त भी सदोष है—दो चन्द्र का दृष्टान्त भी साध्य-साधन विकल है। क्योंकि अभेदरूप साध्य और सहोपलम्भ रूप साधन वस्तु में ही पाये जाते हैं, भ्रान्ति में नहीं।

अवस्था में वासना के दृढ़ नहीं होने से सन्तानान्तर का जो ज्ञान होता है, वह असत्य है। ऐसा आप भी मान लो, फिर सन्तानान्तर का सद्भाव भी वासनाभेद से मान लेना चाहिए, सन्तानान्तर के सद्भाव से नहीं। ऐसी स्थिति में सन्तानान्तर की सिद्धि नहीं होने से आपके क्षयक्षयी मत में अन्वय ज्ञान की (सन्तान की) सिद्धि करना कोसों दूर की बात हो जायेगी। इसलिए ऐसा आपको मानना ही पड़ेगा जो इष्टतत्त्व का अवलम्बन करता हो। इस प्रकार के ज्ञान का सद्भाव मानने पर ज्ञान बाह्य पदार्थ का अवलम्बी है, ऐसे ज्ञान की सिद्धि में कोई बाधक प्रमाण नहीं है। देखा जाए तो बाह्य पदार्थ के होने पर ही ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता होती है। जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञात अर्थ की प्राप्ति हो, वह प्रमाण है और जिससे अर्थ की प्राप्ति ही न हो, वह अप्रमाण है, यह सुतरां सिद्ध होता है।

११. **शंका**—सभी प्रत्यय निरालम्बन हैं क्योंकि स्वप्न प्रत्यय के समान उनमें प्रत्ययपना होता है, ऐसा प्रमाण वार्तिकालङ्कार पृ० ३५९ पर कहा है। यह अनुमान प्रकृत विषय का बाधक है ?

समाधान—नहीं, प्रासंगिक साध्य-साधन प्रत्ययों में स्वार्थ अवलंबन-पने का अभाव होने से

**''अनर्थिका साधनसाध्यधीश्चेद्विज्ञानमात्रस्य न हेतुसिद्धिः।
अथार्थवत्त्वं व्यभिचारदोषो न योगिगम्यं परवादिसिद्धम्॥''**

[युक्त्यनु॰ श्लो॰ १८] इति

१२. तदेवं सकलबाधकवैधुर्यादभ्रान्तेन प्रत्यक्षेण बहिरर्थसिद्धेर्दृष्टाविरुद्धं विज्ञानाद्वैतशासनम्।

१३. तथेष्टविरुद्धं च, अनुमानाद्बहिरर्थसिद्धेः। तच्चेदमनुमानम्–''सन्ति बहिरर्थाः साधनदूषण-प्रयोगात्'' इति कथं पुनरतो भावधर्मिणो बहिरर्थस्य साधनम्, कथं च न स्यात्, अस्य सद्भावधर्मत्वे तद्वदसिद्धत्वापत्तेः; तदभावधर्मत्वे चातस्तदभावस्यैव सिद्धेर्विरुद्धत्वोपनिपातात्, तदुभयधर्मत्वे च व्यभिचार-प्रसंगात् इति चेत्; न; प्रत्येकोभयधर्मविकल्पविकलस्यैवास्याभ्यनुज्ञानात्। कथमेवं तस्य बहिरर्थभावं प्रत्येव लिङ्गत्वं न तदभावं प्रत्यपीति चेत्; न; तत्रैव तस्याविनाभावनियमात्। धर्मिधर्मस्यापि कृतकत्वादेरनित्यत्वादौ तत एव गमकत्वोपपत्तेः न धर्मिधर्मत्वमात्रेण, एकशाखाप्रभवत्वादावपि तदुपनिपातेनातिप्रसंगापत्तेः।

हेतु की विज्ञान मात्र से सिद्धि होती है, क्योंकि हेतु और साध्य दोनों का अभाव है। यदि कहो कि दोनों प्रत्यय अर्थवत्ता (वास्तविकता) रखते हैं तो उन साध्य-साधन दोनों से ही हेतु का व्यभिचारीपन सिद्ध होता है।

जैसा कि स्वामी समन्तभद्र ने कहा है–''यदि साधन-साध्य की बुद्धि निष्प्रयोजनीय है तो विज्ञान मात्र की हेतु से सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि प्रयोजन सहित है तो व्यभिचार दोष आता है, वह विज्ञान योगिगम्य नहीं है और न वह परवादियों को सिद्ध हो सकता है।''

१२. इस प्रकार समस्त बाधकों से रहित होने के कारण अभ्रान्त से और प्रत्यक्ष से बहि अर्थ की सिद्धि हो जाने से विज्ञानाद्वैत शासन प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

१३. और यह शासन परोक्ष से भी विरुद्ध है क्योंकि बाह्य अर्थ की सिद्धि अनुमान से होती है। वह अनुमान यह है–बाह्य अर्थ होते हैं क्योंकि स्वपक्ष का साधन प्रयोग और पर पक्ष का दूषण प्रयोग होता है।

इस प्रकार मानने पर इस अनुमान से भावधर्मी वाला बाह्य अर्थ साधन कैसे हो जाता है ?

कैसे नहीं होगा ? बाह्य अर्थ का सद्भाव रूप धर्मत्व मानने पर उसी अनुमान की तरह असिद्धत्व की आपत्ति आती है। उस बाह्य अर्थ का अभाव धर्मत्व होने पर अभाव की सिद्धि होने से विरुद्धभाव की प्राप्ति हो जायेगी। भाव-अभाव दोनों धर्मत्व होने पर व्यभिचार का प्रसंग आता है।

परिहार–नहीं, प्रत्येक भाव, अभाव धर्मत्व और उभय धर्म के भेद से रहित बाह्य अर्थ की ही स्वीकारता है।

शंका–इस प्रकार कैसे हो सकता है कि उस अनुमान की बाह्य अर्थ भाव के प्रति ही साधनपने की प्राप्ति होती है और उसके अभाव के प्रति साधनपना नहीं होता है?

समाधान–ऐसा नहीं है, बहि अर्थ का सद्भाव होने में ही साध्य-साधन का अविनाभाव नियम बनता है।

१४. तत्र साधनं नीलादेः संवेदनत्वसमर्थनम्, दूषणं बहिरर्थत्वनिषेधनं तयोः प्रयोगः प्रकाशनम्। ''नीलादिः संवेदनादव्यतिरिक्तः तद्वेद्यत्वात्; तत्स्वरूपवत्'' इत्यादिः ''न जडो नीलादिः प्रतिभासमानत्वात् सुखादिवत्'' इत्यादिश्च।

१५. कथं पुनरस्य बहिरर्थाभावेऽनुपपत्तिरिति चेत्; अस्य बहिरर्थविशेषत्वादेव। नहि तदभावे तद्विशेषस्य संभवः, वृक्षाभावे शिंशपाभावस्यैव प्रतिपत्तेः। नासौ तद्विशेष आरोपितरूपत्वादिति चेत्; न; ततः सर्वशक्तिविकलादनिष्टवदिष्टस्याप्यसिद्धेः। अनारोपितोऽप्ययं बोध एव न बहिरर्थ इति चेत्; न, प्रतिपाद्यस्य

साध्य-साधन का अविनाभाव नियम बनता है।

धर्मी और धर्म की भी कृतकत्व आदि हेतु से अनित्यत्व आदि के विषय में अविनाभाव नियम होने से ही (सिद्धि) की उपपत्ति होती है, धर्मी, धर्मत्व मात्र होने से नहीं।

अविनाभाव नियम के बिना यदि अनुमान की सिद्धि होने लगे तो एक शाखा से उत्पन्न हुए अनेक फलों में भी अनुमान के प्राप्त होने से अतिप्रसंग की प्राप्ति होगी।

१४. उस अनुमान में साधन से प्रयोजन नील आदि के संवेदनत्व का समर्थन है। बाह्य अर्थपने का निषेध होना दूषण है। साधन और दूषण इन दोनों का प्रयोग करना ही उस अनुमान को दिखाना है। वह इस प्रकार है–नील आदि संवेदना से भिन्न नहीं हैं क्योंकि उनका संवेदन होता है जैसे नील आदि के स्वरूप का ज्ञान होता है। इत्यादि।

इसी प्रकार नील आदि जड़ भी नहीं है क्योंकि इनका प्रतिभास होता है जैसे सुख आदि का होता है। इत्यादि।

१५. **शंका**—साधनदूषण प्रयोगात् इस हेतु की बाह्य अर्थ के अभाव में उत्पत्ति क्यों नहीं होगी ?

समाधान—क्योंकि यह हेतु बाह्य अर्थ के विशेषत्व से ही बनता है। बाह्य अर्थ के अभाव में उस अर्थ का विशेषत्व (नील आदि धर्म) संभव नहीं है। वृक्ष का अभाव होने पर शिंशप (शीशम के वृक्षविशेष) के अभाव का ही ज्ञान होता है।

शंका—और यह बाहरी अर्थ विशेष आरोपित किया गया है, ऐसा मानें तो क्या बाधा है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, आरोपित किये गये धर्म से वह अर्थ अपनी सर्व शक्ति (धर्म) से शून्य होगा। ऐसी स्थिति में अनिष्ट की तरह इष्ट की सिद्धि भी नहीं होगी।

शंका—चलो ठीक है, यह विशेष धर्म अनारोपित, ऐसा मानते हुए भी साधन और दूषण का प्रयोग तो ज्ञान में ही होता है, बाह्य अर्थ में तो यह प्रयोग नहीं होता है?

समाधान–नहीं, जो कथन योग्य या जानने योग्य अर्थ होता है, उसी अर्थ का यह नील आदि भाव होता है।

शंका—यदि इस नील आदि धर्म को ज्ञान का भाव मानें तो ?

तद्भावात्। प्रतिपादकस्येति चेत्, कथं ततः प्रतिपाद्यस्य प्रकृतार्थस्य प्रतिपत्तिः अन्यबोधादन्यस्य तदनुपपत्तेः। अन्यथा प्रत्यात्मं बुद्धिभेदकल्पनावैफल्योपनिपातात्। तस्मादर्थविशेष एवायमित्युपन्नमेवातो बहिरर्थव्यवस्थानम्। ततः साधूक्तम्–''इष्टविरुद्धं विज्ञानाद्वैतम्'' इति।

[इति विज्ञानाद्वैतशासनपरीक्षा]

समाधान–ऐसा मानने से प्रासंगिक उस अर्थ का ज्ञान कैसे होगा ? ऐसे में तो किसी अन्य ज्ञान से अन्य अर्थ के भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अन्यथा प्रत्येक आत्मा में बुद्धि भेद की कल्पना ही व्यर्थता को प्राप्त होगी अर्थात् प्रत्येक आत्मा में समान ज्ञान होगा। इस कारण से अर्थ विशेष में ही यह साधन दूषण प्रयोग बनता है। इसी से बाह्य अर्थ की सिद्धि भी होती है। इसीलिए ठीक ही कहा है कि –विज्ञानाद्वैत इष्ट (अनुमान) विरुद्ध है।

[इस प्रकार विज्ञानाद्वैत शासन परीक्षा समाप्त हुई]

४.
चित्राद्वैतशासनपरीक्षा

१६. एतेन चित्राद्वैतमपि प्रत्युक्तम्। तन्मतेऽपि बहिरर्थापह्नवात्। प्रत्यक्षानुमानाभ्यां बहिरर्थस्य च व्यवस्थापितत्वादित्यलं प्रसंगेन। सर्वथा अन्तरङ्गार्थैकान्तशासनस्य दृष्टेष्टविरुद्धत्वादसत्यत्वसिद्धेः।

प्रमाणाभावतः सर्वं विज्ञानाद्वैतिनां वचः।
भवेत्प्रलापमात्रत्वान्नावधेयं विपश्चिताम्॥
ज्ञानाद्वैतं न सत्यं स्याद्दृष्टेष्टाभ्यां विरोधतः।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्येति निश्चितम्॥

[इति चित्राद्वैतशासनपरीक्षा]

---

४. चित्राद्वैत शासन परीक्षा

१६. इसी हेतु से चित्राद्वैत शासन का भी निराकरण किया है, यह समझना क्योंकि उस मत में भी बाह्य अर्थ को सर्वथा अभाव रूप मानते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से बहिअर्थ की सिद्धि होती है, यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है। सर्वथा अंतरंग अर्थ को विषय बनाने वाला एकान्तशासन दृष्ट-इष्ट प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण असत्य सिद्ध होता है।

''विज्ञानाद्वैत वादियों के सभी वचन प्रमाण का अभाव होने से प्रलापमात्र हैं, इसलिए विद्वानों के लिए धारण करने योग्य नहीं है। दृष्टेष्ट विरोध के कारण विज्ञानाद्वैत सत्य नहीं है। और इस शासन से स्याद्वाद को कोई आघात नहीं है, यह निश्चित हुआ।''

विशेषार्थ—विज्ञानाद्वैत शासन की तरह चित्राद्वैत भी एक मत है। यह मत भी बाह्य पदार्थ को कुछ नहीं मानता है। कहता है कि ज्ञान ही चित्राकार होता है। अर्थात् ज्ञान में नील, पीत आदि अनेक आकार पाये जाते हैं, जैसे कि चितकबरी गौ आदि में अनेक रंग पाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में नील रूप आकार से पीतरूप आकार भिन्न होने के कारण चित्रज्ञान भी अनेकरूप सिद्ध होगा, फिर चित्रज्ञान अद्वैत कैसे सिद्धि होगा? यहाँ आचार्य देव ने इस मत का खण्डन करने के लिए अलग से आवश्यकता इसीलिए महसूस नहीं की क्योंकि विज्ञानाद्वैतवाद की तरह यह मत भी बाह्य अर्थ का एकान्ततः निषेधक है। इसलिए जो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की बाधाएँ विज्ञानाद्वैतवाद में दिखाई हैं, वही यहाँ भी जानना।

[इस प्रकार चित्राद्वैतशासन परीक्षा समाप्त हुई]

५.
चार्वाकशासन-परीक्षा

[पूर्वपक्षः]

१. अथानेकार्थवादिशासनानां मध्ये तावच्चार्वाकमतं दृष्टेष्टविरुद्धम्। इदं हि तेषामभिमतम्–इह तावन्न कश्चित्सर्वज्ञः सुगतादिषु संभवति।

"सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः॥"

[तत्त्वसं० श्लो० ३१४९] इति वचनात्।

२. नाप्यागमस्तर्को वा प्रमाणभूतोऽस्ति परस्परविरोधादिदोषात्; ततः कथं धर्मो व्यवतिष्ठेत। तदुक्तम्–

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः,
नासौ मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥"

[महाभारत] इति

३. इह आप्तस्तु कश्चिद्देवतारूपो गुरुर्बृहस्पतिरेव प्रत्यक्षप्रसिद्धपृथिव्यादितत्त्वोपदेशात्। तथाहि–

---

५. चार्वाक शासन-परीक्षा

[पूर्वपक्ष]

१. अनेकार्थ वादी शासनों के बीच चार्वाक मत दृष्ट-इष्ट प्रमाणों से विरुद्ध है। उनका अभिमत इस प्रकार है–इस लोक में सुगत आदि में कोई सर्वज्ञ संभव नहीं है–

"सुगत यदि सर्वज्ञ हैं और कपिल सर्वज्ञ नहीं हैं, इसमें क्या प्रमाण है और यदि दोनों सर्वज्ञ हैं तो उन दोनों में मतभेद क्यों हैं ?"

२. यहाँ आगम अथवा तर्क भी प्रमाणभूत नहीं है क्योंकि उनके कथनों में परस्पर विरोध आदि दोष देखे जाते हैं। फिर उससे धर्म कैसे सिद्ध हो? कहा भी है–

"तर्क की कोई प्रतिष्ठा (टिकाव) नहीं है, श्रुति (शास्त्र) अनेक प्रकार की हैं, ऐसा कोई मुनि नहीं जिसके वचन प्रामाणिक हों। धर्म का तत्त्व गुफा में छिपा है। इसलिए महा पुरुष जिस मार्ग से गए हैं, वह ही मार्ग है।"

३.यदि यहाँ कोई आप्त है तो वह देवता रूप गुरु बृहस्पति ही है, क्योंकि उन्हीं ने प्रत्यक्ष सिद्ध

पृथिव्यप्तेजोवायव इति चत्वार्येव तत्त्वानि। कायाकारपरिणतेभ्यस्तेभ्यः पिष्टोदकगुड-धातकीसंयोगान्मद-शक्तिवान् स्नायुलाबूदण्डाङ्गुष्ठाङ्गुलिप्रयत्नाच्छ्रवण-रमणीयक्वणितवच्च तदात्मकं चैतन्यं जायते। तच्च गर्भादिमरणपर्यन्तं ''जीव आत्मा'' इत्यादि व्यपदेशभाक् प्रवर्तते। गर्भात् पूर्वकाले मरणादुत्तरकाले च तदभावः।

४. ततः परलोकिनोऽभावः। परलोकिनोऽभावात् परलोकस्याप्यभावः। परलोकाभावे तल्लोक-सुखानुभवनार्थम् ऐहिकसुखविमुखा डिम्भका इव दम्भप्रलम्भनाधीनाः शरीरार्थव्यय-विधानेन बहुधा मुधावत् क्लेशमश्नुवते। तथैवोक्तम्-

''यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥
स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य महतीं निर्वाणसंपत्करीं,
ये मोहादवधीरयन्ति कुधियो मिथ्यासुखान्वेषिणः॥
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं भस्मीकृता लुण्ठिताः,
केचित् पञ्चशिखीकृता हि जटिनः कापालिकाश्चापरे॥''

[शृङ्गारशतक श्लो० ७९]

पृथ्वी आदि तत्त्वों का उपदेश दिया है। वह इस प्रकार है-पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार ही तत्त्व हैं। शरीर के आकार से परिणत इन्हीं चार तत्त्वों से उस रूप ही चैतन्य उत्पन्न हो जाता है जैसे पिसे हुए गुड़, धतूरा, जल के संयोग से मद की शक्ति उत्पन्न होती है तथा स्नायु, तुम्बी, डण्डा, अंगूठा, अंगुली के प्रयत्न से सुनने में रमणीय मधुर ध्वनि उत्पन्न हो जाती है। तथा वह चैतन्य गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त तक जीव, आत्मा इत्यादि नामों वाला कहलाता है। गर्भ से पहले और मरण के बाद उस चैतन्य का अभाव है।

४. इसी से परलोक में जाने वाला चैतन्य या जीव का भी अभाव सिद्ध है। परलोक जाने वाले जीव का अभाव हो जाने से परलोक का भी अभाव हो जाता है। परलोक का अभाव सिद्ध होने पर भी परलोक के सुख का अनुभव करने के लिए इस लोक के सुखों से विमुख हुए भोले छोटे बच्चों की तरह तथा अहंकार और ठगी के अधीन हुए लोग शरीर और धन के व्यय से बहुत प्रकार से मूर्ख की तरह क्लेश को प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार से कहा है-''जब तक जियें, सुख से जीवें, मृत्यु के बाद कुछ नहीं है। भस्मीभूत होने वाली इस देह का पुनः आगमन कैसे हो सकता है ? अग्नि होम, ऋक्, यजुर् और साम ये तीनों वेद, त्रिदण्ड धारण करना और भस्म लेप करना ये सब बुद्धि और पुरुषार्थ हीन लोगों की जीविका है, इस प्रकार बृहस्पति ने कहा है।''

''मिथ्या सुख को खोजने वाले जो कुबुद्धि पुरुष निर्वाण की संपदा को देने वाली, कामदेव

अन्यच्च–

''पयोधरभरालसाः स्मरविघूर्णितार्द्रेक्षणाः,
क्वचिन्मलयपञ्चमोच्चरितगीतझङ्कारिणीः ।
विहाय [१]रमणीरभूरपरमोक्षसौख्यार्थिना–
महो जडिमडिण्डिमो विफलभण्डपाखण्डिनाम्॥''

इति

[उत्तरपक्षः]

५. तदेतच्चार्वाकमतं तावद् दृष्टविरुद्धम्, प्रत्यक्षेण पृथिव्यादीनां परस्परमुपादानोपादेयभावदर्शनात्, तेषां सर्वथा तत्त्वान्तरत्वस्य पक्षस्य प्रत्यक्षविरोधसिद्धेः। तेषां परस्परमुपादानोपादेयभावेऽपि तत्त्वान्तरत्वे बीजादेरङ्कुरादेरपि तत्त्वान्तरत्वप्रसंगात्।

६. न च तेषां परस्परमुपादानोपादेयभावदर्शनमसिद्धम्, पृथिव्यात्मकचन्द्रकान्तसूर्यकान्तकाष्ठ–विशेषेभ्यो जलानलयोरुत्पत्तेः। प्रदीपजलविशेषाभ्यां पृथ्वीरूपाञ्जनमुक्ताफलयोः, पृथ्वीविशेषताल–वृन्तादेर्वायोः साक्षाद्वीक्षणात्, अन्यथा दृष्टापलापप्रसंगात्।

की महान् स्त्रीमुद्रा का मोह से तिरस्कार करते हैं वे लोग उसी मोह से निर्दयतापूर्वक जीव के सत्व को नष्ट कर तथा भस्म लपेटे ठगे हुए से कुछ लोग पञ्च शिखा को लगाकर जटाधारी बन जाते हैं और कितने ही कापालिक हो जाते हैं।'' और भी कहा है–

''जो स्तनों के भार से जो अलसा रही हैं, काम के कारण से जिनके नेत्र घूम रहे है और जो मलय नामक पञ्चम स्वर से सुरीले गीतों की झंकार करती हैं, ऐसी रमणियों को छोड़कर जो रह रहे हैं और निष्फल मोक्ष सुख की आकांक्षा करते हैं उन भण्ड पाखण्डियों की जड़बुद्धि का जो डिण्डिम घोष हो रहा है वह बड़ा आश्चर्य है।

[उत्तरपक्ष]

५. यह चार्वाक मत प्रत्यक्ष विरुद्ध है क्योंकि पृथ्वी आदि तत्त्वों का परस्पर में उपादान–उपादेय भाव प्रत्यक्ष से देखा जाता है। उन पृथ्वी आदि तत्त्वों का सर्वथा तत्त्वान्तररूप पक्ष का (भौतिक से चैतन्य पक्ष) प्रत्यक्ष से विरोध सिद्ध होता है। उनका परस्पर में उपादान–उपादेय भाव होने पर भी यदि तत्त्वान्तर की सिद्धि होवे तो बीज आदि और अंकुर आदि से भी तत्त्वान्तरपने की प्राप्ति का प्रसंग आ जायेगा।

६. और उनका परस्पर में उपादान–उपादेय भाव का दर्शन होना असिद्ध नहीं है क्योंकि पृथ्वी स्वरूप चन्द्रकान्तमणि से जल और सूर्य कान्त मणिविशेष से अग्नि की उत्पत्ति होती है।

दीपक से पृथ्वी रूप काजल की तथा स्वाति नक्षत्र में बरसे जल विशेष से मोती की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी स्वरूप तालवृन्तों (शाखाओं) आदि से हवा साक्षात् होना देखा जाता है। यदि यह उपादान–उपादेय भाव न माना जाये तो प्रत्यक्ष दृष्ट प्रमाण के अपलाप का प्रसंग आयेगा।

१.रमणीरमूरपरमोक्षसौख्यार्थिना–

७. तथा जीवो नास्तीत्यभिमतमपि दृष्टविरुद्धम्। सुखदु:खहर्षविषादाद्यनेकपरिणामात्मकस्यात्म-तत्त्वस्य स्वसंवेदन-प्रत्यक्षेण निर्बाधमनुभवात् हेतुभिर्विनैव अस्तित्वस्य सिद्धेः।

''तस्य हि हेतुर्वाच्यो यस्मिन्मोमुह्यते मतिर्नृणाम्।
न हि दर्पण आदेयः करकङ्कणदर्शनाय बुधैः॥''

इति वचनात्।

८. न च जीवस्य ज्ञानात्मनः स्वसंवेदनमसिद्धम्; ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे चाभावापत्तेर्ग्राहकाभावात्। ज्ञानान्तरेण ग्रहणे, तस्यापि तदनन्तरेण ग्रहणकल्पनायामनवस्थोपनिपातात्। तदकल्पनायां तथा वक्तुमशक्तेः। न चानुमानेन तद्ग्रहणम्, तदनुपगमात् प्रमाणसंख्याव्याघाताच्च। ततः स्वसंवेदनमेषितव्यम्। तत्र च स्वसंवेदनेन जीवस्य भोक्तृत्वासाधारणधर्मभृतः साक्षात्करणाद् दृष्टविरुद्धमिदं बार्हस्पत्यं मतम्।

९. नासिद्धं भोक्तृत्वस्यासाधारणत्वम्; अचेतनस्य शरीरादेस्तदनुपपत्तेः। न ह्यचेतनस्य शरीरस्य भोक्तृत्वमुपपद्यते, शरीरस्य भोगाधिष्ठानत्वेन प्रसिद्धेः, अन्यथा मृतकस्यापि भोक्तृत्वप्रसंगात्। नापि

---

७. उसी प्रकार जीव नहीं है, यह मान्यता भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है क्योंकि सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि अनेक परिणाम स्वभाव वाले आत्म तत्त्व का अनुभव स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से बिना किसी बाधा के होता है तथा हेतुओं के बिना भी मात्र लोकव्यवहार से ही जीव तत्त्व के अस्तित्व की सिद्धि होती है क्योंकि-

''हेतु का कथन उसी विषय में करना चाहिए जिसमें मनुष्यों की बुद्धि बार-बार मोहित होती है। हाथ में कंगन है, उसे देखने के लिए बुद्धिमानों के द्वारा दर्पण ग्रहण नहीं किया जाता है।'' यह वचन प्रसिद्ध हैं।

८. ज्ञानस्वरूप जीव का स्वसंवेदन होना असिद्ध नहीं है क्योंकि ज्ञान के स्वसंविदितपने (स्वानुभवगम्य) में अभाव की आपत्ति के ग्राहक प्रमाण का अभाव है अर्थात् ज्ञान में स्वसंवेदन का अभाव होने पर जीव का अभाव हो जायेगा। यदि कहो कि ज्ञान का संवेदन अन्य ज्ञान से होता है तो उस ज्ञान को ग्रहण करने के लिए भी अन्य ज्ञान के ग्रहण की कल्पना होगी जिससे अनवस्था दोष का उपनिपात होता है। यदि यह कल्पना नहीं करते हैं तो उस प्रकार कहना संभव नहीं होता है। उस जीव का ग्रहण अनुमान से भी नहीं होता है क्योंकि अनुमान को आप लोग स्वीकारते नहीं है और स्वीकारने पर प्रमाण की संख्या का व्याघात होगा। इसलिए इस जीव को स्वसंवेदन से ही जानना चाहिए क्योंकि भोक्तृत्व नाम का असाधारण गुण धारण करने वाले जीव का स्वसंवेदन से साक्षात्कार सिद्ध होता है। अतः यह बार्हस्पत्य मत प्रत्यक्ष विरुद्ध है, यह सिद्ध होता है।

९. भोक्तृत्व जीव का विशेष गुण है, यह असिद्ध नहीं है। अचेतन शरीर आदि का भोग अन्यथा बन नहीं सकता है और अचेतन शरीर के भोक्तापन की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि शरीर भोगों का केन्द्र है, इस प्रकार की प्रसिद्धि है। यदि ऐसा नहीं मानें तो मृतक शरीर के भी भोक्तापन का प्रसंग आ

करणग्रामस्य; तस्य भोगोपभोगकरणत्वात्। न च शब्दादिविषयस्य; भोग्यत्वेन तस्य प्रतीतेः। ततो भोक्तृत्वमात्मन्येवेति तदपलापिनो लोकायतिकस्य भोक्तृत्वं क्वापि न व्यवस्थामास्तिघ्नुवीत।

१०. ननु पृथिव्यादिसमुदयशरीरकार्यान्वयिनि गर्भादिमरणपर्यन्ते चैतन्ये सर्वचेतनाविशेषव्यापिनि भोक्तृत्वं सम्भवति, शरीरादिविलक्षणत्वात्तस्येति चेत्; तदेवात्मद्रव्यमस्तु, जन्मनः पूर्वं मरणादूर्ध्वमपि तस्य सद्भावोपपत्तेः। विवादापन्नं चैतन्यमनाद्यनन्तं पृथिव्यादिसमुदयशरीरेन्द्रियविषयेभ्योऽत्यन्तवैलक्षण्य-स्यान्यथानुपपत्तेः। न हि तत्कार्यं ततोऽत्यन्तविलक्षणमस्ति, रूपादिसमन्वयात्। चैतन्यस्यापि सत्त्वादि-समन्वयान्नात्यन्तविलक्षणत्वमिति चेत्; न; तत्त्वभेदेऽपि तस्य भावात् पृथिव्यादीनामभेदापत्तेः। पृथिव्यादि-तत्त्वभेदानामेकविकारिसमन्वयाभावाद्भेद एव केषांचित् प्रागभावादिभेदवत्; किमिदानीं चैतन्यभूतयोरेक-विकारिसमन्वयोऽस्ति येन तत्त्वान्तरत्वेन भेदो न स्यात्, तस्मादेकविकारिसमन्वयासत्त्वं वैलक्षण्यम्, तदेव च तत्त्वान्तरत्वमित्यनाद्यनन्ततां चैतन्यस्य साधयतीत्यनाद्यनन्तत्वेन प्रसिद्धः सोऽयमात्मा हर्षविषादाद्य-

---

जायेगा। तथा इन्द्रियों का समूह भी भोक्ता नहीं है क्योंकि इन्द्रियाँ तो भोगोपभोग के विषय में साधनरूप होती हैं। और शब्द आदि विषय का भी भोक्तापन नहीं है क्योंकि शब्द आदि की भोग्यपने से प्रतीति होती है। इसलिए भोक्तृत्व गुण आत्मा में ही है क्योंकि इसका अपलाप करने वाले लोकायितों का भोक्तापन कहीं भी सिद्ध नहीं होता है।

१०. पृथ्वी आदि के समुदाय शरीररूप कार्य का अन्वय रखने वाले गर्भ आदि से मरणपर्यन्त रहने वाले चैतन्य में जो सभी चेतना विशेष रूप से व्याप्त हैं उसमें भोक्तृत्व संभव है क्योंकि उस चैतन्य के शरीर आदि से विलक्षणता है, इस प्रकार यदि कहते हो तो वह चैतन्य ही आत्म द्रव्य होवे। जन्म से पहले और मरण के बाद भी उस चैतन्य के सद्भाव की प्राप्ति होती है। विवादग्रस्त वह चैतन्य अनादि अनन्त है अन्यथा पृथ्वी आदि समुदाय रूप शरीर, इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय विषयों से अत्यन्त विलक्षण उस चैतन्य की उपपत्ति नहीं हो सकती है। पृथ्वी आदि समुदाय का कार्य उन पृथ्वी आदि से अत्यन्त भिन्न नहीं होता है क्योंकि रूप आदि का उस कार्य में भी अन्वय रहता है।

शंका—सत्त्व आदि गुणों का समन्वय होने से वह चैतन्य अत्यन्त भिन्न नहीं हो सकता है?

समाधान—नहीं, दोनों में तत्त्वभेद होने पर भी सत्त्व आदि गुणों के समन्वय की अपेक्षा उनका भिन्न सद्भाव रहता है, इसलिए पृथ्वी आदि के अभेद की प्राप्ति होती है।

पृथ्वी आदि भिन्न तत्त्वों में एक विकारी समन्वय का अभाव होने से भेद ही है, जैसा कि नैयायिकों ने प्राक् अभाव आदि भेद को माना है। क्या यहाँ चैतन्य और पंचभूतों में एक विकारी (समान विकार या कार्य करने वाला) समन्वय है जिससे तत्त्वान्तर रूप से भेद की प्राप्ति न होवे? इसलिए एक विकारी समन्वय का सत्त्व नहीं होने से भिन्न लक्षणपना सिद्ध है। वही भिन्न तत्त्व तत्त्वान्तर है और वह इस प्रकार चैतन्य की अनादि अनन्तता को सिद्ध करता है। इस तरह अनादि अनन्तरूप से प्रसिद्ध वह यह आत्मा हर्ष, विषाद आदि अनेक प्रकार की पर्यायों वाला प्रत्येक आत्मा

नेकाकारविवर्तः प्रत्यात्मवेदनीयः प्रतिशरीरं भेदाभेदात्मकोऽप्रत्याख्यानार्हः प्रतिक्षिपन्तमात्मानं प्रतिबोधयतीति कृतं प्रयासेन। ततश्चार्वाकमतं दृष्टविरुद्धमिति सिद्धम्।

११. एतेन तदिष्टविरुद्धं च सिद्धम्, अनाद्यनन्तस्यात्मनः साधितत्वात्, प्रतिषेधगौण-कल्पनादि-भिस्तस्य साधयिष्यमाणत्वाच्च। तदुक्तम्-

''प्रतिषेध-गौणकल्पन-शुद्धपदानेकसंमतिजिनोक्तैः।
निर्बाधलक्षणार्थैर्लिङ्गैरपि भाव्यते भावः॥''

इति

१२. तद्यथा-''नास्ति जीवः'' इति प्रतिषेधवचनमेव जीवस्य मुख्यवृत्त्या अस्तित्वं सूचयति, निरूपाख्येषु विधिप्रतिषेधानुपपत्तेः। यथा-''नास्तीह घटः'' इति प्रतिषेधो देशान्तरे घटास्तित्वं प्रकाशयति तथा स्वरूपादिचतुष्टयेन सत एव जीवस्य पररूपादिचतुष्टयेन नास्तित्वं घटते नान्यथा।

१३. ननु खरविषाणादीनामत्यन्ताभावरूपाणामपि निषेधविषयस्योपपत्तिरिति चेत्; न, गवादिमस्तके सत एव विषाणस्य खरादिमस्तके प्रतिषेधदर्शनात्। ततः सतः प्रतीतौ प्रतिषेधसिद्धिरिति सुनिरूपितम्।

को अनुभव योग्य है। प्रत्येक शरीर में भेद-अभेद रूप वह आत्मा है जो छोड़ने योग्य नहीं है और जो आत्मा की सत्ता का निराकरण करते हैं अर्थात् आत्म तत्त्व नहीं मानते हैं, उन्हें वह प्रतिबोध उत्पन्न कराता है। इस प्रकार इस विषय में किया गया इतना ही प्रयास पर्याप्त है। इससे ही चार्वाक मत प्रत्यक्ष विरुद्ध है, यह सिद्ध हो जाता है।

११. इसी से यह चार्वाक मत अनुमान विरुद्ध भी सिद्ध होता है क्योंकि आत्मा का अनादि अनन्तपना साधित है अर्थात् अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया जा चुका है। प्रतिषेध, गौणकल्पना आदि के द्वारा भी इस आत्मा की सिद्धि आगे करते है। जैसा कि कहा है-''प्रतिषेध, गौणकल्पना, शुद्ध पद, अनेक सम्मति और जिनेन्द्र भगवान् के वचनों के द्वारा तथा निर्बाध लक्षण को विषय बनाने वाले परोक्ष प्रमाणों के द्वारा वह आत्म तत्त्व सिद्ध है।''

प्रतिषेध द्वारा आत्मतत्त्व की सिद्धि-

१२. वह इस प्रकार है-''नास्ति जीवः'' जीव नहीं है, यह निषेध वचन ही मुख्य वृत्ति से जीव के अस्तित्व को सूचित करता है, क्योंकि निरूपाख्य पदार्थों में विधि-प्रतिषेध की व्यवस्था नहीं बनती है। जैसे-''यहाँ घड़ा नहीं है'', यह प्रतिषेध वचन अन्य किसी स्थान में घट के अस्तित्व को दिखाता है उसी प्रकार स्वरूप आदि चतुष्टय से सत्ता स्वरूप जीव का पररूप आदि चतुष्टय से नास्तित्व धर्म घटित होता है, अन्य प्रकार से नहीं।

१३. **शंका-**''गधे के सींग'' इत्यादि अत्यन्त अभाव रूप वस्तुओं में भी तो निषेध विषय की सिद्धि होती है ?

समाधान-ऐसा नहीं है क्योंकि गौ आदि के मस्तक पर होने वाले सींग का ही गधे आदि के मस्तक पर निषेध किया जाता है। इसलिए सत् की प्रतीति होने पर ही प्रतिषेध की सिद्धि होती है,

१४. तथा चित्रपुरुषादौ ''इदं सजीवचित्रम्'' इति गौणकल्पनं मुख्यवृत्त्या जीवास्तित्वं कथयति, यथा–''सिंहो माणवकः'' इति माणवके सिंहत्वं विशिष्टजात्यादिपरिणतसिंहास्तित्वमिति। तस्माद्-गौणकल्पनात् मुख्यसिद्धिरिति निरवद्यम्।

१५. तथा 'जीवः' इति शुद्धपदं मुख्यवृत्त्या, स्वार्थवत्, शुद्धपदत्वात्, प्रमाणपदवत्। ततः शुद्धपदाभिधेयत्वात् ''अस्ति जीवः'' इति च सिद्धम्।

१६. तथैवानेकविशिष्टजनसम्मतत्वात्, आप्तप्रणीतत्वाच्च ''अस्ति जीवः'' इति सुव्यवस्थितम्।

१७. किं च भूतचैतन्ययोर्बहिरन्तर्मुखावभासयोः बाल्यादि-रागादि-विरुद्धधर्माध्यासितयोर्द्रव्यान्तर-भावेन भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वात् भेद एव। तयोर्देशभेदेनादर्शनादभेदे शरीराकारपरिणतावनिवन-पवनसख-पवनानामप्येकत्वप्रसंगात्। ''उपादानकारणसदृशं हि कार्यं भवति।'' इति वचनाद् धारणेरणद्रवोष्णता-रूपेण भूतसादृश्याभावात्, अमूर्तचैतन्यस्य मूर्तकार्यत्वायोगाच्च शरीराद्भिन्नमेव चैतन्यम्।

यह उचित ही कहा है।

(गौण कल्पना से आत्मतत्त्व की सिद्धि)

१४. तथा चित्र में बने पुरुष आदि में ''यह सजीव चित्र है'' इस तरह की गौण कल्पना भी मुख्यवृत्ति से जीव के अस्तित्व को ही कहती है। जैसे ''यह बालक सिंह है'' इस प्रकार बालक में सिंहपना विशिष्ट जाति आदि से परिणत सिंह के अस्तित्व को कहता है। इसलिए गौण कल्पना से मुख्य की सिद्धि होती है, यह कथन निर्दोष है।

(शुद्ध पद से आत्मतत्त्व की सिद्धि)

१५. तथा ''जीवः'' यह शुद्ध पद मुख्यवृत्ति से अपने जीव अर्थ को बतलाने वाला है क्योंकि वह शुद्ध पद है प्रमाण पद के समान।

इसलिए शुद्ध/अखण्ड पद का अभिधेय होने से ''जीव है'' यह सिद्ध होता है।

(अनेक जनसम्मत और जिनेन्द्र कथित वचनों से आत्मतत्त्व की सिद्धि)

१६. इसी प्रकार अनेक विशिष्ट जनों से संमत होने के कारण तथा आप्त के द्वारा कहे जाने से ''अस्ति जीवः'' जीव है, यह सिद्ध होता है।

१७. दूसरी बात यह है कि पंचभूत और चैतन्य में बहिरंग और अंतरंग धर्म की मुख्यता से देखने में आने वाली क्रमशः बाल्य आदि दशाएँ तथा राग आदि अवस्था में विरुद्ध धर्मों का ज्ञान होता है, इसलिए चैतन्य कोई भिन्न द्रव्य है तथा भिन्न प्रमाण से ग्रहण योग्य होने के कारण भूतों से भिन्न द्रव्य है क्योंकि उन दोनों में स्थान (अवकाश) भेद का दर्शन नहीं होने से अभेद रूप मानने पर तो शरीराकार से परिणत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के भी एकत्व का प्रसंग आ जायेगा। ''उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है।'' इस न्याय वचन से पृथ्वी का धारण गुण, वायु की ईरण (बहना) गुण, जल का द्रव गुण और अग्नि का उष्णता गुण रूप से जीव में भूत के गुणों की समानता नहीं पायी जाती है। अमूर्त चैतन्य द्रव्य मूर्त का कार्य कभी नहीं हो सकता है, इसलिए चैतन्य शरीर से भिन्न ही है।

१८. तस्य चाभिलाषो हि प्रत्यभिज्ञाने सति प्रादुर्भवति, प्रत्यभिज्ञानं च स्मरणे सति, स्मरणं च पूर्वानुभव एव भवतीति पूर्वानुभवः सिद्धः। अन्यथा तदहर्जातबालकस्य स्तनादावभिलाषाऽभावप्रसंगात्। मृतानां केषांचिद्रक्षोयक्षादिकुलेषु स्वयमुत्पन्नत्वेन कथयतां दर्शनात् केषांचिद्भवस्मृतेरुपलम्भाच्च परलोकोऽप्यस्ति। तदुक्तम्–

''तदहर्ज्जस्तनेहातो रक्षो दृष्टेर्भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः॥''

इति।

१९. जननादिकारणाविशेषेऽपि सुखदुःखादिवैचित्र्यदर्शनात् पुण्यपापादिकमप्यस्त्येव। एवं प्रमाण-सिद्धे परलोके परलोक-पुण्यपापप्रद्वेषि बृहस्पतिमतं न सतां मनो मनागपि प्रीणयति, किंतु उपालम्भमेवार्हति। स चोक्तः स्वामिभिः–

''मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा मृदवः प्रलब्धाः॥
दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम्।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा प्रपातः॥
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपदेष्वदोषम्।
निर्घुष्य दीक्षा सममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्याः बत विभ्रमन्ति॥''

[युक्त्यनु० श्लो० ३५-३७] इति

---

१८. उस जीव की इच्छा प्रत्यभिज्ञान होने पर ही उत्पन्न होती है। प्रत्यभिज्ञान स्मरण होने पर उत्पन्न होता है और स्मरण पूर्व का अनुभव होने पर ही होता है, इस तरह पूर्व का अनुभव भी सिद्ध होता है। अन्यथा आज ही उत्पन्न हुए बालक की स्तन आदि में अभिलाषा के अभाव का प्रसंग आ जायेगा। कितने ही मरे हुए लोग राक्षस, यक्ष आदि कुलों में जन्म लेकर स्वयं अपनी कथा कहते हुए देखे जाते हैं और कितने ही जीवों को जन्म की स्मृति हो आती है, जिससे परलोक भी है, यह सिद्ध होता है। कहा भी है–

''नवजात शिशु की स्तनपान की इच्छा से, राक्षसों को अपने कुल का दर्शन होने से तथा भवस्मरण (जातिस्मरण) से भूत से भिन्न सनातन तथा स्वभाव से ज्ञानी आत्मा सिद्ध होता है।''

१९. सभी जीवों के जन्म आदि कारणों की समानता होने पर भी सुख, दुःख आदि का वैचित्र्य दिखाई देने से पुण्य, पाप आदि भी है, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार प्रमाण से परलोक सिद्ध हो जाने पर परलोक तथा पुण्य, पाप का शत्रु यह बृहस्पतिमत सज्जनों के मन को किंचित् भी प्रसन्न नहीं करता है उलटा हँसी का पात्र ही सिद्ध होता है।

आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने भी वही कहा है–''जिस प्रकार मद्य के अंगभूत पिष्ठोदक, गुड़, घातकी आदि के मिलने से मद शक्ति की उत्पत्ति होती है उसी तरह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु भूत

ततो नायं बृहस्पतिराप्ततामात्मसात्करोति।

२०. यदुक्तम्–''सर्वज्ञो नास्ति'' इत्यादि, तदपि प्रलापमात्रमेव; प्रत्यक्षतः सर्वज्ञस्य मुनेः, अनुमानस्यागमस्य च नास्तित्वव्यवस्थापनासंभवात्, तस्य भावविषयताभ्युगमात्। यदि किंचित् प्रत्यक्षं तत्राप्रवर्तमानत्वादेव तदभावं व्यवस्थापयेत्, तदा पुरुषान्तरादि-प्रत्यक्षान्तराणामप्यभावं तदेव गमयेत्, तद्विषयाणां च क्ष्मादीनामित्यतिप्रसंगः स्वयमिष्टस्य बृहस्पत्यादिप्रत्यक्षस्यापि सविषयस्याभावसिद्धेः।

२१. अथ प्रत्यक्षान्तरं स्वयमात्मानं व्यवस्थापयति पृथिव्यादि स्वविषयं च तत्र प्रवर्तनादतो न तदभावप्रसंग इति मतम्; तर्हि सर्वज्ञोऽपि स्वसंवेदनादात्मानं स्वर्गापूर्वादिविषयं च व्यवस्थापयति, इति कथं तदभावसिद्धिः, प्रमाणान्तरस्य च तद्वचनस्य हेतुवादरूपस्याऽहेतुवादरूपस्य च स एव व्यवस्थापकः स्यादिति

तत्त्वों के मिलने से चैतन्य उत्पन्न होता है। यह चैतन्य तत्त्व किसी अन्य शक्ति विशेष की व्यक्ति (उत्पत्ति) है, कोई देव सृष्टि नहीं है। इस प्रकार यह जिनका सिद्धान्त है, उन अपने शिश्न (लिंग) तथा उदर की पुष्टि में सन्तुष्ट रहने वाले निर्लज्जों तथा निर्भयों के द्वारा हा! भोले मनुष्य ठगे गये हैं।

जब चैतन्य आदि की उत्पत्ति में कोई विशिष्ट हेतु नहीं देखा जाता है, तब इन चार्वाकों के मत में प्राणी-प्राणी के प्रति क्या विशेषता बन सकती है? इसलिए दूसरों के मत में मानी गयी चैतन्य आदि तत्त्व की सिद्धि स्वभाव से क्यों नहीं हो? अर्थात् अवश्य होवे। इस प्रकार हे भगवन् आपके मत के अनुसार तत्त्वान्तर (चैतन्य) की सिद्धि न मानने वाले उन चार्वाकों का हाय! यह कैसा पतन हुआ है? इस जगत् की स्वच्छन्दवृत्ति स्वभाव से ही है, इसलिए जगत् के ऊँचे दर्जे के अनाचार मार्गों (कुशील, हिंसा आदि) में भी कोई दोष नहीं है, ऐसी घोषणा करके जो लोग दीक्षा के साथ ही मुक्ति को मानकर अभिमानी हो रहे हैं, वे सब आपकी दृष्टि से बाह्य है तथा बड़े खेद की बात है कि वे सब विभ्रम में पड़े हैं।'' [युक्त्यनुशासन ३५-३६-३७]

इसलिए यह बृहस्पति आप्तपने को आत्मसात् नहीं कर पाता है।

२०. जो यह कह गया है कि ''सर्वज्ञो नास्ति'' अर्थात् सर्वज्ञ नहीं है इत्यादि कथन भी प्रलाप मात्र ही है क्योंकि प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ मुनि की और अनुमान तथा आगम प्रमाण की निषेधात्मक व्यवस्था संभव नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष की भाव विषयता स्वीकार की गई है। यदि कुछ प्रत्यक्ष है किन्तु किसी स्थान पर उसकी प्रवृत्ति नहीं होने मात्र से ही उसका अभाव सिद्ध करेंगे तो फिर कई पुरुषों से अन्तर को प्राप्त प्रत्यक्षान्तर वस्तु का भी अभाव सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में पृथ्वी आदि भूत जो कि प्रत्यक्ष के विषय हैं उनका भी अतिप्रसंग दोष होगा। स्वयं बृहस्पति आदि को जो मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण इष्ट है, वह अपने विषय के साथ अभावरूप ही सिद्ध होगा।

२१. यदि प्रत्यक्ष के बिना भी पृथ्वी आदि और उनके अपने विषय स्वयं अपने आप की सिद्धि कर लेते हैं क्योंकि उनका वहाँ प्रवर्तन देखा जाता है, इसलिए उन प्रत्यक्षान्तरों के अभाव का प्रसंग नहीं आता है। इस प्रकार मानते हो तो फिर सर्वज्ञ भी स्वसंवेदन से आत्मा की, स्वर्ग, अपूर्व आदि विषय की स्थापना करते हैं तो इसमें उसके अभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है? अनुमान

कुतस्तदभावसिद्धिः। सर्वज्ञः स्वपरव्यवस्थापकोऽस्तीत्यत्र किं प्रमाणामिति चेत्; स्वप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः प्रत्यक्षान्तरं स्वपरविषयमस्तीत्यत्र किं प्रमाणम्, तथा प्रसिद्धिरन्यत्रापि, इति न प्रत्यक्षं तदभावावेदकम्, अतिप्रसंगस्य दुःपरिहरत्वात्।

२२. किं च, सर्वज्ञत्वाभावः प्रत्यक्षेण क्व चित् कदाचित् कस्यचिद् व्यवस्थाप्यते, सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य वा? तत्राद्यपक्षे परस्येष्टापादनम्। द्वितीयपक्षे सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञत्वाभावं प्रत्यक्षतः संविदन् स्वयं सर्वज्ञः स्यात्। तथा सति व्याहतमेतत् सर्वज्ञाभाववचनं चार्वाकस्य।

२३. नाप्यनुमानं तदभावसाधकम्, तदभ्युपगमात् स्वयमनुमानं निराकुर्वन्ननुमानादेव सर्वज्ञाभावं साधयति इति कथमनुन्मत्तः।

२४. तदेवं बाधकाभावादस्ति सर्वज्ञः। स च स्याद्वादी भगवनर्हन्नेवान्ययोगव्यवच्छेदेन निश्चीयते, तस्यैव युक्तिशास्त्राविरुद्धवाक्यत्वात्। अन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात्। ततस्तदुक्तो धर्मो मोक्षश्च व्यवतिष्ठते। तन्निराकरणे चार्वाकाणां प्रमाणाभावस्य प्रतिपादितप्रायत्वात्। प्रलापमात्रस्य च प्रेक्षावता-

---

प्रमाण रूप सर्वज्ञवचन के तथा हेतुवाद रूप एवं अहेतुवाद रूप सर्वज्ञ के वचनों के व्यवस्थापक वह सर्वज्ञ ही हैं, तो फिर कैसे उन सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि हो ? यदि कहो कि सर्वज्ञ स्व-पर व्यवस्थापक है, यह किस प्रमाण से सिद्ध है तो मैं आपसे पूछता हूँ कि स्वप्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण का कथन करने वाले आपके यहाँ प्रत्यक्षान्तर स्वपर को विषय करने वाले हैं, इस बात में क्या प्रमाण है? अन्यत्र भी सर्वज्ञ की इसी प्रकार सिद्धि की गई है। इस तरह प्रत्यक्ष प्रमाण वस्तु के अथवा सर्वज्ञ के अभाव का आवेदक (ज्ञान कराने वाला) नहीं है। क्योंकि इस अति प्रसंग का परिहार करना कठिन है।

२२. और आप सर्वज्ञत्व का अभाव प्रत्यक्ष से क्व चित्, कदाचित् किसी जीव का सिद्ध करते है अथवा सर्वत्र, सर्वकाल में और सभी जीवों का ? उसमें प्रथम पक्ष मानने पर तो आपका इष्ट व्याघात होता है और किसी न किसी को इष्ट (सर्वज्ञत्व) की प्राप्ति होती है, यह सिद्ध होता है। द्वितीय पक्ष स्वीकारने पर सभी जगह, सभी कालों में, सभी जीवों के सर्वज्ञत्व का अभाव प्रत्यक्ष से जानते हुए आप स्वयं ही सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं। ऐसा होने पर सर्वज्ञ का अभाव कहने वाले चार्वाक के वचन विनष्ट हो जाते हैं।

२३. अनुमान भी सर्वज्ञ के अभाव का साधक नहीं है क्योंकि अनुमान प्रमाण आपको स्वीकार नहीं है। स्वयं अनुमान का खण्डन करने वाला अनुमान से ही सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करता है तो ऐसी दशा में वह उन्मत्त क्यों नहीं है अथवा उसे अनुन्मत्त या विज्ञ कैसे माने?

२४. इस प्रकार सभी बाधकों का अभाव होने से सर्वज्ञ हैं। वह सर्वज्ञ स्याद्वाद का कथन करने वाले भगवान् अर्हत् ही हैं, यह अन्ययोग व्यवच्छेद (अर्थात् अन्य मत के खण्डन) से निश्चित होता है। उनके ही वचन युक्तिशास्त्र से अविरुद्ध हैं। अन्यों के वाक्य न्याय और आगम के विरुद्ध कथन करने वाले हैं। इसलिए इससे ही उन सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए धर्म और मोक्ष की सिद्धि भी होती है। उस धर्म और मोक्ष के निराकरण में चार्वाकों का प्रमाणाभाव ही प्रायः प्रतिपादित होता है। जो कि

मनादरणीयत्वादिति स्थितं दृष्टेष्टविरुद्धत्वात् चार्वाकमतमसत्यमिति।

स्वपराविदिताध्यक्षचार्वाकाणां वचोऽखिलम्।
भवेत् प्रलापमात्रत्वान्नावधेयं विपश्चिताम्॥
न चार्वाकमतं सत्यं दृष्टादृष्टेष्टबाधतः।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वाद(स्ये)ति निश्चितम्॥

[इति चार्वाकशासन-परीक्षा]

विचारशील जनों को वह प्रलाप मात्र अनादरणीय है। इस प्रकार दृष्टेष्ट विरुद्ध होने से चार्वाक मत असत्य है, यह सिद्ध होता है।

''स्वपर को प्रत्यक्ष से नहीं जानने वाले चार्वाक के सभी वचन प्रलापमात्र होने से विद्वानों को अवधारण करने योग्य नहीं हैं। दृष्ट, अदृष्ट तथा इष्ट बाधा से चार्वाक मत सत्य सिद्ध नहीं होता है जिससे स्याद्वादियों को कोई हानि नहीं है, यह निश्चित है।''

[इति चार्वाकशासन-परीक्षा]

६.
बौद्धशासन-परीक्षा

१. तथा ताथागतशासनमपि दृष्टेष्टविरुद्धम्। एवं हि सर्वभावानां क्षणभङ्गसंगममेवाङ्गशृङ्गारमङ्गी-कुर्वाणास्ताथागताः संगिरन्ते–रूपादिपञ्चस्कन्धा एव तत्त्वानि। रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीय-विजातीयव्यावृत्ताः परस्पराऽसंबद्धा रूपस्कन्धाः। सुखदुःखादयो वेदनास्कन्धाः। सविकल्पक-निर्विकल्पक-ज्ञानानि विज्ञानस्कन्धाः।

जाति-क्रिया-गुण-द्रव्यसंज्ञा पञ्चैव कल्पनाः।
अश्वो याति सितो घण्टिक तदाख्येति यथाक्रमम् ॥४॥

इति।

इत्येतत्कल्पनासहितं सविकल्पकम्, तद्रहितं निर्विकल्पकम्। तथा वृक्षादिनामानि संज्ञास्कन्धाः। ज्ञानपुण्यपापवासनाः संस्कारस्कन्धाः इति। रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारा इति पञ्च स्कन्धाः।

[पूर्वपक्ष]

२. तेषु च पूर्व-पूर्वचित्तविशेषप्रभवा उत्तरोत्तरचित्तक्षणा उपादानोपादेयरूपेण सजात्युत्तरक्षणं जनयन्तः परस्परासंपृक्ता निरन्वयप्रतिक्षणविशरारवो निरंशाश्च भ्रान्तिवशात् ग्राह्य-ग्राहक-संवेदनाकार-

६. बौद्धशासन परीक्षा

१. इसी तरह ताथागत शासन भी दृष्टेष्ट विरुद्ध है। सभी भावों का क्षणभर में नष्ट हो जानेवाला संगम (संयोग) ही शरीर का श्रृंगार है, इस प्रकार स्वीकार करने वाले ताथागत कहते हैं–रूप आदि पंच स्कन्ध ही **तत्त्व हैं।** रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के परमाणु सजातीय विजातीय परमाणुओं से भिन्न तथा परस्पर में असंबद्ध होते हैं, इन्हें **रूप स्कन्ध** कहते हैं। सुख, दुःख आदि **वेदना स्कन्ध** कहलाते हैं। सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान **विज्ञान स्कन्ध** कहलाते हैं।

''जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य और संज्ञा ये पाँच ही कल्पना हैं। उनमें अश्व यह जाति है, याति = जाना यह क्रिया है, सफेद है–यह गुण है, घण्टा वाला–यह द्रव्य है और उस नाम वाला–यह संज्ञा है। इन पाँचों ही कल्पनाओं को यथाक्रम से जानना।''

इस प्रकार कल्पना से सहित ज्ञान सविकल्पक ज्ञान है। इससे रहित ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है। वृक्ष आदि नाम **संज्ञा स्कन्ध** कहलाते हैं। ज्ञान तथा पुण्य, पाप की वासना **संस्कार स्कन्ध** हैं। इस तरह रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पाँच स्कन्ध हैं।

२. उसमें पूर्व-पूर्व चित्तविशेष से उत्पन्न आगे-आगे के चित्तक्षण उपादान-उपादेय रूप से सजातीय उत्तर क्षणों को उत्पन्न करते हुए परस्पर में भिन्न निरन्वय, प्रतिक्षण विनष्ट होने वाले तथा

त्रयाक्रान्ता विजातीयाऽव्यवधानलघूत्पत्ति-सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलब्धबुद्धेः संतानरूपेण वर्तमानात्माभिधानं जनयन्ति। तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानमपि लूनपुनर्जातनखकेशादौ पूर्वापरैकत्वाभावेऽपि दर्शनान्नित्यत्वसमर्थनाय नालमिति त्रिकालानुयाय्येकत्वरहिता एव वर्तन्ते; किंतु ज्ञान-वैराग्यभावनातिशयवशादविद्यातृष्णाविगमे निःशक्तिकानामुत्तरोत्तर-विज्ञानक्षणमजनयतां निरन्वयविनाशेन संतानोच्छित्तिर्मोक्षः। ''प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्म-निर्वाणम्'' इति वचनात्। तदुक्तम्-

''क्षणादूर्ध्वं न तिष्ठन्ति शरीरेन्द्रियबुद्धयः।
दीपार्चिरिव वर्तन्ते स्कन्धाः क्षणविलम्बिताः॥''

इति।

३. तस्य च मोक्षस्योपायः काषायचीवरपरिधानशिरस्तुण्ड-मुण्डनब्रह्मचर्यधारणादयः। तथैव दुःखसमुदयनिरोधमार्गणा इति चत्वारः पदार्थाश्चतुरार्यसत्याभिधाना मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्याः।

४. तत्र सहज-शरीर-मानसागन्तुकानि दुःखानि। तत्र सहजं क्षुत्तृष्णा-मनोभूभयादिकम्। शारीरं वात-पित्त-पीनसानां वैषम्यसंभूतम्। मानसं धिक्कारावज्ञेच्छाविघातादिजनितम्। आगन्तुकं शीतवातातपाश-

---

निरंश होते हैं। वे ही चित्तक्षण भ्रांतिवश ग्राह्य, ग्राहक, संवेदन इन तीन आकारों से आक्रान्त होते हुए विजातीय, व्यवधान रहित, शीघ्रोत्पत्ति, सदृश, अन्य-अन्य उत्पत्ति से बुद्धि को मोहित करने के कारण संतान रूप से वर्तमान होने के कारण आत्मा की संज्ञा को उत्पन्न करते हैं क्योंकि उसमें एकत्व प्रत्यभिज्ञान भी काटे हुए और पुनः बढ़े हुए नख, केश आदि में पूर्वापर एकत्व का अभाव होने पर भी एकत्व रूप से दिखाई देता है। इसलिए नित्यत्व का समर्थन करने में समर्थ नहीं होता है।

इस प्रकार तीनों काल में एक-दूसरे से जुड़े हुए चित्त क्षण एकत्व रहित ही रहते हैं। किन्तु ज्ञान, वैराग्य की भावना के अतिशय के कारण से अविद्या, तृष्णा के दूर हो जाने पर शक्ति रहित वे चित्तक्षण उत्तरोत्तर विज्ञान क्षण को उत्पन्न नहीं करते हैं। उनका निरन्वय विनाश हो जाने से संतान की परम्परा टूट जाना ही मोक्ष है। कहा भी है-''प्रदीप निर्वाण की कल्पना के समान आत्मा का निर्वाण होता है।'' वहीं कहा है-

''शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि क्षणभर से अधिक नहीं ठहरते हैं। वे स्कन्ध क्षणभर ठहरने वाले दीपक की लौ के समान होते हैं।''

३. उस मोक्ष का उपाय लाल रंग का चीवर धारण करना, शिर और मुख के बालों का मुण्डन करना तथा ब्रह्मचर्य धारण करना आदि है। उसी प्रकार दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार पदार्थ चार आर्य सत्य के नाम से कहे जाते है जो मुमुक्षु को जानना चाहिए।

विशेष—यहाँ दुःख के कारण को समुदय कहा है। अर्थात् दुःख, दुःख का कारण, दुःख को रोकना और उस दुःख को रोकने का मार्ग ये चार आर्य सत्य हैं।

४. उसमें दुःख चार प्रकार के हैं-सहज, शारीरिक, मानस और आगन्तुक। उसमें क्षुधा, तृष्णा, काम, भय आदि सहज दुःख हैं। वात, पित्त, श्लेष्म की विषमता से उत्पन्न हुए शारीरिक दुःख हैं।

निपातादिजनितम्। एतद्दु:खविशिष्टाश्चित्तक्षणाः संसारिणां दुःखमित्युच्यन्ते। तद्दुःखजननकर्मबन्धहेतुभूते अविद्यातृष्णे समुदयशब्देनोच्येते तत्र वस्तुयाथात्म्याऽप्रतिपत्तिरविद्या। इष्टानिष्टेन्द्रियविषय-प्राप्ति-परिहारवाञ्छा तृष्णा। निरोधो नाम अविद्यातृष्णाविनाशेन निरास्रवचित्तसंतानोत्पत्तिलक्षणः संतानोच्छित्ति-लक्षणो वा मोक्षः। तथा मोक्षहेतुभूता मार्गणा।

५.सा च सम्यक्त्व-संज्ञा-संज्ञीवाक्काय-कर्मान्तर्व्यायामाऽऽजीवस्थिति-समाधिलक्षणाष्टाङ्गाः। तत्र सम्यक्त्वं पदार्थानां याथात्म्यदर्शनम्। संज्ञा वाचकः शब्दः संज्ञी वाच्योऽर्थः। वाक्कायकर्मणी वाक्कायव्यापारौ। अन्तर्व्यायामो वायुधारणा। आजीवस्थितिरायुरवसानपर्यन्तं प्राणधारणा। समाधिर्नाम सर्वं दुःखम्, सर्वं क्षणिकम्, सर्वं निरात्मकं सर्वं शून्यमिति सत्यभावना। तस्याः प्रकर्षादविद्यातृष्णाविगमे निरास्रवचित्तक्षणाः सकलपदार्थावभासकाः समुत्पद्यन्ते। तद्योगिप्रत्यक्षम्। स च योगी यावदायुस्तावत्काल-मुपासकानां धर्ममुपदेश्य आयुरवसाने प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणं प्राप्नोति उत्तरचित्तस्योत्पत्तेर-भावादिति। तदप्युक्तम्-

''दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्, स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥

धिक्कार, अवज्ञा, इच्छाविघात या इच्छापूर्ति आदि न होने से उत्पन्न दुःख मानसिक हैं। शीत, वात, आतप, गर्मी, बिजली गिरना आदि से उत्पन्न हुए दुःख आगन्तुक हैं। इन दुःखों से विशिष्ट हुए चित्तक्षण संसारी जीवों के **दुःख** हैं, इस प्रकार कहे जाते हैं। उन दुःखों को उत्पन्न करने वाले कर्मबन्ध के हेतुभूत अविद्या और तृष्णा है। इन्हीं को **समुदय** शब्द से कहा जाता है। वस्तु का याथात्म्य (सही) ज्ञान नहीं होना **अविद्या** है। इन्द्रियों के इष्ट विषयों की प्राप्ति की वांछा और अनिष्ट विषयों को दूर करने की वाञ्छा तृष्णा है। अविद्या और तृष्णा के विनाश से निरास्रव चित्त संतान की उत्पत्ति लक्षण वाला तथा संतान की उच्छित्ति (नाश) लक्षण वाला मोक्ष या संतति **निरोध** कहलाता है। मोक्ष के हेतुओं को **मार्गणा** कहते हैं।

५. उस मार्गणा के आठ अंग हैं –सम्यक्त्व, संज्ञा, संज्ञी, वचनकर्म, कायकर्म, अन्तर्व्यायाम, आजीवस्थिति और समाधि। उनमें पदार्थों का याथात्म्य दर्शन सम्यक्त्व है। वाचक शब्द संज्ञा कहलाते हैं। वाच्यभूत अर्थ संज्ञी कहलाता है। वचन और काय के व्यापार वाक्काय कर्म हैं। वायुधारणा अन्तर्व्यायाम है। आयुपर्यन्त प्राणधारण करना आजीव स्थिति है। सब दुःख रूप है, सब कुछ क्षणिक है, सब कुछ निरात्मक है, सब कुछ शून्य है, इस प्रकार की सत्य भावना समाधि है। इस भावना की उत्कृष्टता से अविद्या और तृष्णा का नाश होता है जिससे चित्त क्षण निरास्रव हो जाते हैं और समस्त पदार्थों को देखते हैं, यही **योगिप्रत्यक्ष** है। वह योगी जब तक आयु है तब तक उपासकों को धर्म का उपदेश देकर आयु के अन्त में प्रदीप निर्वाण के समान आत्मनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि उसके उत्तरचित्त की उत्पत्ति का अभाव हो जाता है। वही कहा भी है–

''जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है तो वह न पृथ्वी की ओर जाता है, न अन्तरिक्ष में, न दिशा

जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित्, मोहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥''

[सौन्दरनन्द० १६/२८,२९] इति।

[उत्तरपक्षः]

६. तदेतत्सौगतमतं तावत् दृष्टविरुद्धम्। सौगताभिमतस्य निरन्वयविनाशिपरमाणुमात्रलक्षण-स्वलक्षणस्य स्थूलस्थिर-साधारणाकारावभासिना प्रत्यक्षेण विरुद्धत्वात्। नहि प्रत्यक्षे सूक्ष्मक्षणिका-साधारणरूपाः परमाणवः प्रतिभासन्ते, स्थूलस्थिरसाधारणाकारात्मनामेव घटादीनां प्रतिभासनात्।

७. ननु परमाणुष्वेवात्यासन्नासंसृष्टेषु दृष्टौ प्रतिभासमानेषु कुतश्चिद्विभ्रमनिमित्तादात्मनि परत्र चासन्तमेव स्थूलाद्याकारं दर्शयन्तो संवृतिः तान् संवृणोति केशादिभ्रान्तिवदिति चेत्; नैवम्; बहिरन्तश्च प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वापत्तेः, तस्य अभ्रान्तत्वकल्पनापोढत्वाभावप्रसंगात्, ''प्रत्यक्षं कल्पनापोढम-भ्रान्तम्'' [न्यायवि० १/४] इति लक्षणस्याऽसंभवदोषानुषंगात्।

में, न विदिशा में जाता है, अपितु तैल के समाप्त हो जाने से शान्त हो जाता है, उसी तरह जीव मोक्ष को प्राप्त होता है तो वह जीव न पृथ्वी की ओर जाता है, न अन्तरिक्ष की ओर जाता है, न दिशा में जाता है और न विदिशा में जाता है, किन्तु मोह के क्षय से केवल शान्ति को प्राप्त हो जाता है।'' [सौन्दरनन्द/१६/२०,२९]

६. वह यह सौगतमत पहले तो दृष्टविरुद्ध है क्योंकि स्थूल, स्थिर और साधारण आकार को दिखाने वाले प्रत्यक्ष के साथ बौद्धों को मान्य निरन्वय, विनाशी, परमाणु मात्र का लक्षणरूप अपने लक्षण के साथ विरुद्धपने को प्राप्त है। प्रत्यक्ष में सूक्ष्म, क्षणिक, साधारण रूप वाले परमाणु दिखाई नहीं देते हैं क्योंकि स्थूल, स्थिर, साधारण आकार वाले घट आदि का ही प्रतिभास होता है।

''जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है तो वह न पृथ्वी की ओर जाता है, न अन्तरिक्ष में, न दिशा में, न विदिशा में जाता है अपितु तैल के समाप्त हो जाने से शान्त हो जाता है उसी तरह जीव मोक्ष को प्राप्त होता है तो वह जीव न पृथ्वी की ओर जाता है, न अन्तरिक्ष की ओर जाता है, न दिशा में जाता है और न विदिशा में जाता है किन्तु मोह के क्षय से केवल शान्ति को प्राप्त हो जाता है।'' (सौदरनन्द/१६/२०,२९)।

७. **शंका**—अति आसन्न और असंसृष्ट (भिन्न) परमाणु जो कि दृष्टि में देखे जाते हैं तो किसी विभ्रम के कारण आत्मा में और अन्यत्र असत् स्थूल आदि आकार को दिखाती हुई संवृति (कल्पना) उन परमाणुओं को ग्रहण कर लेती है जैसे केश आदि की भ्रान्ति होती है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो बहिरंग और अन्तरङ्ग प्रत्यक्ष के भ्रान्तपने की आपत्ति आ जायेगी और भ्रांत प्रत्यक्ष के अभ्रान्तरूप कल्पना से रहितपने के अभाव का प्रसंग आयेगा। जिससे आपका लक्षण कि ''प्रत्यक्ष कल्पना से रहित और अभ्रान्त है'' यह असंभव दोष से सहित होगा।

८. ननु नैष दोषः, परमाणुप्रत्यक्षस्य तल्लक्षणसंभवादिति चेत्; न; परमाणूनां जातुचिदध्यक्ष-बुद्धावप्रतिभासनात्। न हि कश्चिल्लौकिकः परीक्षको वा देशकालविप्रकृष्टार्थवत् परमाणून् साक्षात्प्रत्येति, अन्यथा प्रतीत्यपलापप्रसंगात्। त इमे परमाणवः प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं न समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तु-मिच्छन्तीत्यमूल्यदानक्रयिणः।

९. न च परमाणवः प्रत्यक्षा भवितुमर्हन्ति, तत्साक्षात्करणे प्रमाणाभावात्। निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमस्तीति चेत्; न; तस्याव्यवसायात्मकस्याप्रामाण्यात्, अविसंवादवैकल्यात्। तथा हि–यदविसंवादविकलं न तत्प्रमाणं, यथा अज्ञस्य विषदर्शनम्, तद्विकलं च सौगतपरिकल्पितं दर्शनम्। अविसंवादो हीत्थं गेयमित्थं चित्रमित्यभिसन्धिकरणमेव। ''अभिप्रायनिवेदनादविसंवादनम्'' [प्र॰ वा॰ १/३] इति वचनात्। न च तन्निवेदनमव्यवसायस्य, अज्ञविषदर्शनस्यापि तत्प्रसंगात्।

१०. अव्यवसायस्यापि दर्शनस्य व्यवसायजननात्तन्निवेदनमिति चेत्; न; व्यवसायस्यैवासंभवात्, कुतश्चिदपि तत्स्वरूपस्याव्यवस्थितेः। विकल्पस्वरूपस्य स्वसंवेदनेन व्यवस्थापनेऽपि तस्य विकल्पान्तरापेक्षत्व-प्रसंगात्, नीलादिस्वलक्षणदर्शनवत्।

---

८. **शंका**—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि परमाणु में प्रत्यक्ष का वह लक्षण घटित हो जाता है।

समाधान—नहीं, परमाणुओं का आपके द्वारा मान्य प्रत्यक्षज्ञान में कभी भी प्रतिभास नहीं हो सकता है। कोई भी लौकिक जन अथवा परीक्षा प्रधानी मनुष्य देश और काल से दूरवर्ती पदार्थों की तरह परमाणुओं को भी साक्षात् नहीं जान सकता है, अन्यथा प्रत्यक्षज्ञान से जो प्रतीति होती है, उसके अपलाप का प्रसंग आ जायेगा। वह परमाणु कोई प्रत्यक्ष बुद्धि में अपने आप को समर्पित नहीं कर देते हैं। लगता है कि बिना मूल्य दिये हुए खरीदने वाले सौगत प्रत्यक्षपने को ऐसे ही स्वीकारते हैं।

९. परमाणु प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं क्योंकि उनका साक्षात्कार होने में कोई प्रमाण नहीं है।

शंका—प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है।

समाधान—नहीं, वह प्रत्यक्ष ज्ञान अव्यवसायात्मक है, इसलिए वह प्रमाण नहीं है। और वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष अविसंवाद से रहित है। जो अविसंवाद से रहित है वह प्रमाण नहीं है जैसे अज्ञानी को विष का दर्शन। अविसंवाद से रहित सौगत का मत है। इस प्रकार गाना चाहिए, इस प्रकार चित्र है, इस तरह की प्रतिज्ञा ही अविसंवाद है। ''अभिप्राय के निवेदन से अविसंवाद होता है।'' इस प्रकार कहा है। वह निवेदन (कथन) अव्यवसाय रूप ज्ञान का नहीं होता है क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो अज्ञानी का विष-दर्शन भी अविसंवादी हो जायेगा।

१०. यदि कहो कि अव्यवसायात्मक दर्शन भी व्यवसाय से उत्पन्न होता है, इसलिए उसका निवेदन हो जाता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस अव्यवसायात्मक दर्शन के व्यवसाय ही संभव नहीं है। किसी तरह से भी-उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष दर्शन के स्वरूप की स्थिति नहीं बनती है। विकल्पस्वरूप उस प्रत्यक्ष दर्शन की स्वसंवेदन से व्यवस्था होने पर भी उस प्रत्यक्ष दर्शन को अन्य विकल्पस्वरूप दर्शन की अपेक्षा का प्रसंग आयेगा, जैसे नील आदि का अपने लक्षण से दर्शन होता है।

११.यदि स्वसंवेदनं निश्चयस्वरूपं निश्चयनिरपेक्षतया परिनिष्ठापयेत् तदा वस्तुदर्शनमपि स्वलक्षणम्, विशेषाभावात्, तथा च किं निश्चयापेक्षया? वस्तुदर्शनस्य निश्चयापेक्षायां वा निश्चयस्वरूप-संवेदनस्यापि निश्चयान्तरापेक्षणादनवस्था स्यात्। विकल्पस्य विकल्पान्तरेण व्यवस्थापनेऽपि तस्यापि तदन्तरेण व्यवस्थेति तदवस्थैवानवस्था। ततो व्यवसाय एव न संभवति यतस्तज्जननात् प्रत्यक्षं प्रामाण्य-मुपढौकेत।

१२.यथा कथंचिद् व्यवसायस्य संभवे वा न तज्जननं संभवति अव्यवसायाद् व्यवसायस्य गर्दभादश्वस्येवानुत्पत्तेः। अभिलापशून्यादप्यध्यक्षाद् व्यवसायकल्पनायां स्वलक्षणं किं नाध्यवसायं जनयेत् स्वयमभिलापशून्यमपि, प्रत्यक्षमध्यवसायस्य हेतुर्न पुनः रूपादिरिति कथं सुनिरूपिताभिधानम्।

१३.यदि पुनरविकल्पकादपि प्रत्यक्षाद्विकल्पात्मनो अध्यवसायस्योत्पत्तिः प्रदीपादेः कज्जलादिवत्, विजातीयादपि कारणात् कार्यस्योत्पत्तिदर्शनादिति मतम्; तदा तादृशोऽर्थाद्विकल्पात्मनः प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्तु तत एव।

---

११. यदि स्वसंवेदन निश्चय स्वरूप है और निश्चय की अपेक्षा बिना सिद्ध होता है तो वस्तु का दर्शन भी अपने लक्षण से सिद्ध होगा क्योंकि उसमें किसी विशेष का अभाव है। फिर निश्चय की अपेक्षा से क्या स्वरूप मान लें ? अथवा वस्तु दर्शन में निश्चय की अपेक्षा होने पर निश्चयस्वरूप संवेदन को भी अन्य निश्चय की अपेक्षा होगी, जिससे अनवस्था दोष आता है। विकल्प स्वरूप की विकल्पान्तर से व्यवस्था मानने पर भी उस विकल्पान्तर की भी अन्य विकल्प से व्यवस्था करनी पड़ेगी, जिससे वह व्यवस्था ही अनवस्था होगी। इसलिए निर्विकल्प प्रत्यक्ष दर्शन में व्यवसाय ही संभव नहीं होता है जिससे कि उस व्यवसाय के निवेदन की उत्पत्ति हो जाने से प्रत्यक्ष प्रामाणिकता को प्राप्त हो जावे।

१२. अथवा जिस किसी भी तरह व्यवसाय की उत्पत्ति होने पर तज्जनन निवेदन भी संभव नहीं है क्योंकि अव्यवसाय से व्यवसाय की उत्पत्ति नहीं होती है जैसे गधे से घोड़े की उत्पत्ति नहीं होती है। अभिलाप (कथन) शून्य प्रत्यक्ष से भी व्यवसाय की कल्पना में स्वयं अभिलाप शून्य भी स्वलक्षण क्या अध्यवसाय को उत्पन्न नहीं करेगा? अर्थात् अवश्य करेगा।

विशेष—जिस प्रत्यक्ष का व्यवसाय के अभाव में कथन करना ही सम्भव नहीं है, उस कथनशून्य प्रमाण का लक्षण भी कथनयोग्य नहीं होगा। फिर आपके यहाँ तो कथनशून्य प्रत्यक्ष का लक्षण ही अध्यवसाय को उत्पन्न करेगा, जो कि सम्भव नहीं है।

आप बौद्ध लोग जो यह कहते हो कि प्रत्यक्ष ही अध्यवसाय का हेतु है, न कि रूप आदि, तो यह कथन आपने विचारपूर्वक कहा है, यह कैसे कहा जा सकता है?

१३. यदि अविकल्पक प्रत्यक्ष से विकल्पात्मक अध्यवसाय की उत्पत्ति दीपक आदि से कज्जल आदि की तरह होने लगे और विजातीय कारण से भी कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है, इस प्रकार माना जाता है तो फिर उसी प्रकार के अर्थ से विकल्पात्मक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति भी वैसे ही होवे।

१४. जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकल्पनारहितादर्थात् कथं जात्यादिकल्पनात्मकं प्रत्यक्षं स्यादिति चेत्; प्रत्यक्षात्तद्रहिताद्विकल्पः कथं जात्यादिकल्पनात्मकः स्यादिति समानःपर्यनुयोगः। विकल्पस्य जात्यादिविषयत्वाददोषः इति चेत्; न; प्रत्यक्षवत् तस्य जात्यादिविषयत्वविरोधात्; तत एव तस्य वस्तुनोऽप्युत्पत्तिप्रसक्तेश्चेति व्यवसायहेतुत्वमनुपपन्नमेव।

१५.अथ व्यवसायवासनोन्मीलनेन अव्यवसायस्यापि व्यवसायहेतुत्वं दर्शनस्येति चेत्; न; तद्वदर्थस्यैव तद्धेतुत्वप्रसंगेन अन्तर्गडुनो दर्शनस्याऽकल्पनापत्तेः। व्यवसायहेतुत्वेन चाविसंवादित्व-मौपचारिकमेव दर्शनस्य स्यात्, मुख्यतः संनिपत्याऽभिप्रायनिवेदनेन व्यवसायस्यैव तदुपपत्तेः। न च ततस्तस्य प्रामाण्यम्; सन्निकर्षादावपि तत्प्रसंगात्। ततो युक्तमविसंवादवैकल्यात् दर्शनमप्रमाणमिति। तदुक्तम्–

''विषदर्शनवत्सर्वमज्ञस्याकल्पनात्मकम्।
दर्शनं न प्रमाणं स्यादविसंवादहानितः॥''

[सिद्धिविनिश्चय १/२४] इति।

---

१४. **शंका**—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, परिभाषा की कल्पना से रहित अर्थ से जाति आदि की कल्पना वाला प्रत्यक्ष कैसे होवे ?

समाधान—जाति आदि से रहित प्रत्यक्ष से जात्यादि की कल्पनात्मक अर्थ कैसे होवे, इस प्रकार प्रश्न तो वही बना रहेगा।

विकल्प के जाति आदि का विषयपना होने से दोष नहीं है, यदि ऐसा कहो तो वह भी नहीं बनता है, क्योंकि प्रत्यक्ष की तरह निर्विकल्प प्रत्यक्ष के भी जाति आदि विषयपने से विरोध आता है। उस प्रत्यक्ष से ही उस वस्तु की उत्पत्ति का प्रसंग आ जाने से इस तरह उस प्रत्यक्ष में व्यवसाय हेतुत्व अनुपपन्न–असिद्ध होता है।

१५. **शंका**—व्यवसाय की वासना का प्रकाशन हो जाने से अव्यवसायी दर्शन के भी व्यवसाय का हेतुपना बन जाता है ?

समाधान—नहीं, दर्शन की तरह अर्थ को वही हेतु का प्रसंग आ जाने से अन्तरंग दर्शन की कल्पना नहीं होने की आपत्ति आती है। व्यवसाय के हेतुपने से दर्शन का अविसंवादित्व औपचारिक ही है। मुख्यता से संनिपात करके अभिप्राय के निवेदन करने से व्यवसाय को ही हेतुपने की प्राप्ति होती है तथा व्यवसाय के हेतुपना सिद्ध हो जाने से उस दर्शन की प्रमाणता नहीं हो जाती है क्योंकि ऐसा मानने पर सन्निकर्ष आदि ज्ञान में भी उसी प्रमाणता का प्रसंग आ जायेगा। इसलिए सिद्ध होता है कि अविसंवाद से रहित होने के कारण दर्शन अप्रमाण है।

कहा भी है–''अज्ञ को होने वाले विषदर्शन की तरह जहाँ सब कुछ कल्पना रहित (निर्विकल्प) है, ऐसा वह दर्शन अविसंवाद रहित होने के कारण प्रमाण भूत नहीं है।'' [सिद्धिविनिश्चय १/२४]

१६. प्रामाण्याभावे च दूरतः प्रत्यक्षत्वम्, तस्य तद्विशेषत्वेन तदभावेऽनुपपत्तेः। अतः प्रत्यक्षाभावान्न परमाणूनां प्रतिभासने प्रत्यक्षं प्रभवति।

१७.नाप्यनुमानम्; तस्य लिङ्गदर्शनपूर्वकस्य प्रत्यक्षाभावेऽनुपपत्तेः। नाप्यागमः वाचां वस्तुविषयत्वानिष्टेः। एवं सकलप्रमाणाभावात् कथमर्थप्रमितिः स्यात्, तदभावे परोदितपञ्चस्कन्ध-रूपाशेषप्रमेयानुपपत्तिः। तथा च सकलं जगच्छून्यमेवेति स्याद्वादविद्वेषिनां सौगतानां महदनिष्टमुपनिपतति। तदुक्तं स्वामिसमन्तभद्रपादैः-

''प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र, तल्लिङ्गिगम्यं न तदर्थलिङ्गम्।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः, का तद्गतिः कष्टमश्रुण्वतां ते॥''

[युक्त्यनु॰ श्लो॰ २२] इति।

१८. ततः प्राक्परमाणवः प्रतिभासन्त इति परेषां प्रतिज्ञा पोप्लूयते, तथा पश्चात् संवृत्या स्थूलाद्याकाराः प्रतीयन्ते इति प्रतिज्ञापि। प्रागपि प्रत्यक्षेण नीलादिवत् स्थूलाद्याकाराणां दर्शनात् नीलविकल्पवत् स्थूलादिविकल्पानां च प्रतीतेः।

१९. तस्मादिन्द्रियबुद्धयोऽपि स्वलक्षणविषया मा भूवन् केवलं स्थूलाद्याकारान् पश्येयुः, अदृष्टे

---

१६. प्रामाण्य का अभाव होने पर दर्शन का प्रत्यक्षपना दूर ही रहे। क्योंकि दर्शन का विशेषपना होने से उस प्रत्यक्षता के प्रामाण्य का अभाव होने पर उसकी उपलब्धि भी नहीं होती है। अतः आपके द्वारा माने गये प्रत्यक्ष का अभाव होने से परमाणुओं को देखने में प्रत्यक्ष समर्थ नहीं है।

१७. अनुमान प्रमाण से भी परमाणु का प्रतिभासन नहीं हो सकता है। वह अनुमान साधन (लिंग) के दर्शनपूर्वक होता है। प्रत्यक्षज्ञान के अभाव में उस अनुमान की उत्पत्ति नहीं होती है। आगम भी प्रमाण नहीं है क्योंकि आपके वचनों की वस्तुविषयपने से अनिष्टता है। इस प्रकार समस्त प्रमाणों का अभाव होने से पदार्थ का प्रमाण ज्ञानरूप फल कैसे होवे? पदार्थ ज्ञान का अभाव होने पर आपके द्वारा कहे हुए पञ्च स्कन्धरूप अशेष प्रमेय (कहने योग्य) पदार्थ की भी सिद्धि नहीं होती है। जिससे सकल जगत् शून्य ही होता है, इस प्रकार स्याद्वाद से द्वेष रखने वाले सौगतों को इस महान् अनिष्ट की प्राप्ति होती है। **स्वामी समन्तभद्रपाद** ने भी कहा है-''जहाँ प्रत्यक्ष बुद्धि चलती नहीं है, उसे यदि लिंगगम्य माना जाय तो उसमें अर्थरूप लिंग सम्भव नहीं हो सकता है और वचन का उस संवेदनाद्वैत रूप विषय के साथ योग नहीं बैठता है। ऐसे उस संवेदनाद्वैत रूप तत्त्व की क्या गति है ? अतः आपको (वीर भगवान को) न सुनने वालों का वह दर्शन कष्ट रूप है।''

१८. इसलिए पहले परमाणुओं का प्रतिभासन होता है, यह प्रतिज्ञा बुद्धों की विनष्ट हो जाती है। बाद में संवृति (कल्पना) से स्थूल आदि आकार ज्ञान में आते है, यह प्रतिज्ञा भी व्यर्थ सिद्ध होती है क्योंकि पहले भी जैसे प्रत्यक्ष से नील आदि के समान स्थूल आदि आकारों का दर्शन होता है वैसे ही नील विकल्प की तरह स्थूल आदि विकल्पों की भी प्रतीति होती है।

१९. इसलिए इन्द्रियों से प्रवर्तित बुद्धियाँ भी अपने निर्धारित विषय में प्रवृत्त नहीं होवे। केवल

विकल्पायोगात्, अतिप्रसंगाच्च।

२०.यथैव हि नीले पीतादीनामदृष्टत्वान्न तद्विकल्पोत्पत्तिः, नीलस्य दृष्टत्वान्नील-विकल्प-स्यैवोत्पत्तेः, तथैव स्थूलादीनपश्यतः तद्विकल्पोत्त्पत्तिर्मा भूत्; स्वलक्षणदर्शनात् स्वलक्षण-विकल्पोत्पत्ति-रेवास्तु।

२१.न चैवम्, स्थूलाद्याकारेष्वेव विकल्पोत्पत्तेः। यदि पुनः स्थूलाद्याकाराणामदर्शनेऽपि तदनादिवासानावशादेव तद्विकल्पोत्पत्तिरुरीक्रियते तदा नीलादिरूपादर्शनेऽपि तद्वासनासामर्थ्यादिव नीलादिविकल्पोत्पत्तिः। ततो नीलादिरूपव्यवस्था मा भूत्। तद्वत्सुखादिव्यवस्थितिरपि कुतः संभाव्येत्। स्वसंवेदनव्यवस्था न तन्निश्चयोत्पत्तेः दुर्घटैव। तदनुत्पत्तेः सुतरां तदव्यवस्था स्वर्गप्रापणशक्त्यादिवद् वेद्याकारविवेकवद्वा। ''स्वरूपस्य स्वतो गतिः'' [प्र० वा० १/५] इत्यपि तथा निश्चयानुत्पत्तौ न सिद्ध्येत्, ब्रह्माद्वैतदिवदिति सर्वं विप्लवते।

२२.ततः कुतश्चिन्निश्चयात् नीलादिस्वभावव्यवस्थायां स्थूलादिनिश्चयात् वस्तुनि परमार्थतः स्थूलाद्याकारव्यवस्थितिरास्थेया अन्यथा क्व चिदपि व्यवस्थानासिद्धेः।

स्थूल आदि आकारों को देखने वाले हों। क्योंकि अदृष्ट में विकल्प ज्ञान का योग नहीं बैठता है और अति प्रसंग दोष भी आता है।

२०. **शंका—**जिस प्रकार नील में पीत आदि का दर्शन नहीं होता है, और स्थूल आदि विकल्पों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि नील का दर्शन होने से नील विकल्प की ही उत्पत्ति होती है उसी प्रकार स्थूल आदि विकल्पों को नहीं देखने वाले व्यक्ति के स्थूल आदि विकल्पों की उत्पत्ति नहीं होती है। अपने लक्षण का दर्शन होने से अपने लक्षणों के विकल्प की ही उत्पत्ति होवे।

२१. **समाधान—**ऐसा नहीं है, स्थूल आदि आकारों में ही विकल्पों की उत्पत्ति होती है। यदि फिर भी स्थूल आदि आकारों को देखे बिना भी स्थूल आदि रूप अनादि वासना के कारण से ही उन स्थूल आदि विकल्पों की उत्पत्ति स्वीकार की जाए तो फिर नील आदि रूपों के देखे बिना भी उन नील आदि की वासना की सामर्थ्य से ही नील आदि विकल्पों की उत्पत्ति हो जायेगी। इसलिए नील आदि रूपों की व्यवस्था भी नहीं बन सकती है। उसी तरह सुख आदि की स्थिति भी कैसे संभव होगी ? और स्वसंवेदन की व्यवस्था भी उस विषय में निश्चय की उत्पत्ति होने से घटित होना कठिन है। स्वसंवेदन से निश्चय की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होने से स्वर्ग प्राप्त करने की शक्ति आदि के समान अथवा वेदन योग्य पदार्थों के आकार भेद के समान स्वसंवेदन की व्यवस्था का नहीं होना अच्छी तरह सिद्ध होता है। जो यह कहा जाता है कि ''स्वरूप की स्वयं से ही गति होती है'' यह भी निश्चय की अनुपलब्धि में सिद्ध नहीं होता है। ब्रह्माद्वैत आदि की तरह सब कुछ विप्लव/हानि को प्राप्त होता है।

२२. इसलिए नील आदि स्वभाव व्यवस्था में किसी प्रकार का निश्चय हो जाने से तथा वस्तु में स्थूल आदि का निश्चय हो जाने से परमार्थ से स्थूल आदि आकार की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा कभी भी व्यवस्था की सिद्धि नहीं है।

२३. ततो न तेषां सांवृतत्वम्, संवृते विकल्पात्मिकायाः प्रागेव प्रत्यदिष्टत्वाच्चेति प्रागुक्तं शाक्यवक्यमशेषतः प्रतिज्ञारूपं प्राज्ञैरवज्ञायते।

२४. ननु [न] परमार्थः स्थूलाद्याकाराः बाधकसद्भावात्। तथा हि–स्थूलाकारोऽवयवी, साधारणाकारः सामान्यम्। तत्र चैकस्यावयविनोऽनेकेष्ववयवेषु सामान्यस्यैकस्य अनेकव्यक्तिषु वृत्तिः परैरिष्टा, प्रत्याश्रयं किमेकदेशेन, सर्वात्मना वा स्यात् प्रकारान्तराभावात्। समवायः प्रकारान्तरमिति चेत्; न; अयुतसिद्धेषु वर्तते समवैति इत्यनयोरर्थभेदाभावात्। तत्रैकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्यधिकरणं न तावदेकदेशेन, निःप्रदेशत्वात्। नापि सर्वात्मना, अवयव्यादिबहुत्वप्रसंगात्; यावन्तोऽवयवादयस्तावन्तोऽवयव्यादयः स्युः, तेषां प्रत्येकं सर्वात्मना वृत्तत्वात्।

२५. अथ प्रदेशवत्त्वं मन्येत अवयव्यादीनां तत्रापि वृत्तिविकल्पोऽनवस्था च। तथा वावयव्यादि सर्वं तदेकमेव न स्यादिति वृत्तेर्दोषस्य बाधकस्य भावादिति चेत्; तदसत्, भेदैकान्तवादिनामेव प्रतिपादित-दोषोपनिपातात्। स्याद्वादिभिरपि–

---

२३. इसलिए परमाणु आदि की काल्पनिक वृत्ति अर्थात् संवृत्ति सिद्ध नहीं है। संवृत्ति विकल्पात्मक होती है, इसलिए पहले ही इसका निराकरण किया जा चुका है। इस प्रकार पहले कहे हुए प्रतिज्ञा रूप शाक्य के वचन विवेकीजनों से पूर्णतः अनादर को प्राप्त होते हैं।

२४. **शंका**—स्थूल आदि आकार परमार्थ नहीं है अर्थात् वास्तविक नहीं है, क्योंकि बाधक कारण का सद्भाव है। वह इस प्रकार है– स्थूल आकार अवयवी है, साधारण आकार सामान्य है। उसमें एक अवयवी की अनेक अवयवों में, एक सामान्य की अनेक व्यक्ति (सामान्यवानों) में वृत्ति वैशैषिकों ने मानी है। तो वह वृत्ति प्रत्येक अपने आश्रय में क्या एकदेश से मानी जाय अथवा सर्वदेश से मानी जाय क्योंकि अन्य दूसरे प्रकार का तो अभाव है। यदि कहो कि अवयव और अवयवी का, सामान्यसामान्यवानों का जो सम्बन्ध होता है, वह प्रकारान्तर से समवाय सम्बन्ध माना जाय, तो यह भी संभव नहीं है क्योंकि अयुतसिद्ध पदार्थों में जो समवेत होकर रहता है, वह समवाय है, इस प्रकार अयुतसिद्ध और समवाय में कोई अर्थ भेद नहीं है। तथा हम पूछते हैं कि एक कार्य द्रव्य आदि अवयवी का अनेक कारणादिक अवयव में जो रहना होगा तो वह प्रत्येक अधिकरण/आश्रय में कैसे रहेगा ? यदि कहो कि एकदेश से रहेगा तो वह कार्य द्रव्य प्रदेश रहितपने को प्राप्त होगा। तथा एक कार्य की अपने अनेक कारणों में वृत्ति सम्पूर्ण रूप से मानी जाय तो अवयवी आदि के बहुत्व का प्रसंग प्राप्त होगा। जितने अवयव आदि रूप कारण हैं उतने ही अवयवी आदि रूप कार्य होंगे। उन प्रत्येक अवयवों की सम्पूर्णरूप से वृत्ति होने का प्रसंग आयेगा।

२५. यदि अवयवी आदि कार्य द्रव्य को प्रदेश वाला मानते हों तो उसमें भी वृत्ति का विकल्प उपस्थित होगा और पुनः अनवस्था दोष आयेगा।

विशेषार्थ—यदि अवयवी पट में अवयव रूप तन्तुओं से सांशता मानी जाय तो इसी प्रकार का वहाँ भी विकल्प उपस्थित होगा कि पट अपने अंशों में खंडशः रहता है या सर्वात्मपने से रहता है।

''एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा।
भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते॥''

[आप्तमी० श्लो० ६२] इति।

तान् प्रति तद्दोषप्रतिपादनात्।

२६. नन्वेवं वृत्तेर्दोषः स्याद्वादिनां च प्रसज्यत इति चेत्; तर्हि नायं प्रसंगोऽनेकान्ते कथंचित्तादात्म्यात् वेद्यवेदकाकारज्ञानवत्। यथैव हि ज्ञानस्य वेद्यवेदकाकाराभ्यां तादात्म्यम्, अशक्यविवेचनत्वात् ''किमेक-देशेन सर्वात्मना वा'' इति विकल्पयोर्न विज्ञानस्य सावयवत्वं बहुत्वं वा प्रसज्येत, अनवस्था वा, तथा अवयव्यादेरप्यवयवादिभ्यस्तादात्म्यमशक्यविवेचनत्वादेव नैकदेशेन प्रत्येकं सर्वात्मना वा; यतस्ताथागतः सर्वथा भेद इव अवयवावयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्येऽपि वृत्तिं दूषयेत्।

२७. यदत्रान्यदप्युक्तम्–न परमार्थः स्थूलाकारः परमाणूनां सम्बन्धासिद्धेः तेषामेकदेशेन सम्बन्धे दिग्भागभेदादनुषट्केन युगपद्योगे षडंशतापत्तेः; सर्वात्मना सम्बन्धे प्रचयस्यैकपरमाणुमात्रत्वापत्तेरिति,

---

इस वृत्ति रूप विकल्पों का पुनः पुनः उठना ही अनवस्था दोष है। वृत्ति का अर्थ अपने कारणों में कार्य का रहना है। इन पूर्वोक्त विकल्पों का उठना ही वृत्तिविकल्प है।

तथा अवयवी आदि सभी कार्य द्रव्य एक ही नहीं होते है। इस प्रकार वृत्ति में बाधक दोष का सद्भाव होता है। ऐसा कहना भी गलत है क्योंकि भेद एकान्त वादियों को कहे हुए दोषों की प्राप्ति होती है। स्याद्वादियों के द्वारा भी कहा गया है–

''निरंश भाग का सर्वथा अभाव होने से एक की अनेक में वृत्ति हो नहीं सकती है और न ही एक की बहुत रूप वृत्ति हो सकती है। यदि वृत्ति मानी जायेगी तो उनमें अनेकता माननी पड़ेगी। यदि इसके भाग माने जायेंगे तो वह एक नहीं हो सकता है, इस प्रकार अनार्हत मत में वृत्ति मानने पर दोष अवश्य आता है।'' (आप्तमी०/६२)। इस तरह प्रतिवादियों के प्रति दोष का कथन किया है।

२६. **शंका**—यह वृत्ति का दोष तो स्याद्वादियों को भी इसी प्रकार प्राप्त होगा ?

समाधान—अनेकान्त मत में यह प्रसंग नहीं आता है क्योंकि वहाँ कथंचित् तादात्म्य स्वीकारा है वेद्य एवं वेदक आकार स्वरूप ज्ञान के समान जिस प्रकार से ज्ञान का वेद्य-वेदक के आकारों से तादात्म्य है और वह तादात्म्य का विवेचन करना अशक्य है। वह तादात्म्य एक देश है अथवा सर्वदेश है, इस प्रकार के विकल्पों में विज्ञान का अवयव सहितपना अथवा बहुतपना का प्रसंग नहीं आयेगा अथवा अनवस्था दोष नहीं आयेगा उसी प्रकार अवयवी आदि का भी अवयव आदि से तादात्म्य विवेचन करना अशक्य ही है, वह न एक देश है और न प्रत्येक का सर्वदेश है। जिससे ताथागत अवयव-अवयवी आदि के सर्वथा भेद के समान कथंचित् तादात्म्य में भी वृत्ति को दूषण दे सकें।

२७. यहाँ कुछ और भी कहा है–परमाणुओं के स्थूलाकार को परमार्थ नहीं माना जा सकता है क्योंकि परमाणुओं का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि उन परमाणुओं का एकदेश सम्बन्ध मानने पर दिशाओं के भेद से षट्कोणों का युगपत् सम्बन्ध होने से परमाणु में षडंशता की आपत्ति

तदपि दूषणं परमाणूनामनन्यथैकान्तवादिनां स्यान्न पुनः स्याद्वादिनाम्। यथैव हि नैयायिकादयः ''परमाणवो विविक्तावस्थावत् प्रचयावस्थायामपि परमाणुत्वं न त्यजन्ति'' इति मन्यन्ते न तथा स्याद्वादिनो येन तद्दोषस्तेषामनुषज्येत; तैः परमाणूनां स्निग्धरूक्षाणामजघन्यगुणानां द्व्यधिकादिगुणानां विजातीयानां सजातीयानां च सक्तुतोयवत् संतप्तजतुखण्डवत् कथंचित् स्कन्धाकारपरिणामात्मकस्य सम्बन्धस्याभ्युप-गमात्।

''लुक्खस्स लुक्खेण दुवाहिएण,
णिद्धस्स णिद्धेण दुवाहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेइ बंधो,
जहण्णवज्जे विसमे समे वा॥''

इति वचनात्।

२८.परैरप्येवमभ्युपगमः कर्तव्यः, अन्यथा अर्थक्रियाविरोधात्, अणूनामन्योन्यमसम्बन्धतो जलधारणाहरणाद्यर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तेः। रज्जुवंशदण्डादीनामेकदेशापकर्षणे तदन्याकर्षणे चासम्बन्ध-

---

आयेगी तथा सर्वदेश सम्बन्ध मानने पर उन परमाणु समूह की एक परमाणु मात्र बन जाने की आपत्ति आयेगी। इस प्रकार परमाणुओं का वह स्थूलाकार परमार्थ नहीं है यह दूषण अन्यथैकान्तवादियों के मत में हो स्याद्वादियों के मत में नहीं।

विशेष—कितने ही प्रतिवादी ऐसा मानते हैं कि परमाणु तो सर्वथा नित्य ही है, किसी भी अवस्था में चाहे वह संयुक्त हो अथवा वियुक्त उनमें अन्य स्वरूपता नहीं आती। समस्त अवस्थाओं में वह एक स्वरूप रहते हैं इसी का नाम अनन्यता का एकान्त है।

जिस प्रकार नैयायिक आदि ऐसा मानते हैं कि परमाणु वियुक्त अवस्था की तरह संयुक्त अवस्थाओं में भी परमाणुपने को नहीं छोड़ते हैं उस तरह स्याद्वादी नहीं मानते हैं जिससे उनको वह दोष लगे। जघन्य गुण से रहित, दो अधिक गुण वाले विजातीय और सजातीय स्निग्ध रूक्ष परमाणुओं का सत्तू में जल की तरह और गर्म लाख की तरह कथंचित् स्कन्धों के आकार में परिणामात्मक सम्बन्ध को स्याद्वादी स्वीकारते हैं।

कहा भी है—''स्निग्ध पुद्‍गल का दो गुण अधिक स्निग्ध पुद्‍गल के साथ और रूक्ष पुद्‍गल का दो गुण अधिक रूक्ष पुद्‍गल के साथ बन्ध होता है, तथा स्निग्ध पुद्‍गल का रूक्ष पुद्‍गल के साथ विषम अथवा सम भी अविभाग प्रतिच्छेदों के रहने पर बन्ध होता है। परन्तु जघन्य गुणवाले पुद्‍गल परमाणुओं का किसी भी अवस्था में बन्ध नहीं होता है।'' (षट्० सू० ५/६/३६)

२८. बौद्धों को भी इसी प्रकार स्वीकार करना चाहिए अन्यथा अर्थक्रिया का विरोध आयेगा। अणुओं का परस्पर में सम्बन्ध का अभाव होने पर जलधारण, जल को ग्रहण करना आदि अर्थक्रियाकारित्व की प्राप्ति नहीं होगी। रस्सी लिपटे बाँस के डण्डे आदि के एक छोर को ढीला छोड़ने पर तथा उसके दूसरे छोर को खींचने पर परस्पर सम्बन्ध का अभाव कहने वाले न हों क्योंकि

वादिनो न स्यात्। अस्ति चैतत् सर्वम्, विकल्पप्रतिभासिनः प्रत्यक्षदृष्टत्वसिद्धेः अदृष्टे विकल्पायोगात्, अन्यथातिप्रसंगस्योक्तप्रायत्वात्। असंबद्धपरमाणुमात्रग्राहिप्रत्यक्षादि-प्रमाणाभावस्य प्रतिपादितत्वाच्च। ततो जलाहरणाद्यर्थ-क्रियान्यथानुपपत्तेः सम्बन्धसिद्धः।

२९. किं च, एवं वदतः चित्रज्ञाननिर्भासलवविशेषाणामेकदेशेन सर्वात्मनापि सम्बन्धासिद्धेः सकलनीलादिनिर्भासावयवव्याप्येकत्वं तत्र न सिद्ध्येत्। तदवयवपृथक्त्वकल्पनायां चित्रैकज्ञानव्यवहारो मा भूत्; पृथग्वर्णान्तरविषयानेकसंतानैकैकक्षणवत्। तत्र प्रत्यासत्तिविशेषः कथंचिदैक्यात्कोऽपरः स्यात्; देशप्रत्यासत्तेः शीतवातादिभिः व्यभिचारात्; कालप्रत्यासत्तेरेकसमयवर्तिभिरशेषार्थैरनेकान्तात् भावप्रत्यासत्तेरेकार्थोद्-भूतानेकपुरुषज्ञानैरनैकान्तिकत्वात्, द्रव्यप्रत्यासत्तिरेव पारिशेष्यात् संभाव्यते। सा चैकद्रव्यतादात्म्य-लक्षणत्वात् प्रत्यासत्तिविशेष इति कथंचिदैक्यमेवैकत्वव्यवहारनिबन्धनं चित्रज्ञानस्य।

३०. तदेवं प्रमाणसिद्धचित्रज्ञानवत् सूक्ष्मस्थूलात्मनि जात्यन्तरे स्याद्वादीष्टवस्तुनि वृत्तिदोषाद्यखिल-दोषो नावकाशं लभते। अत्रान्यत्र च सर्वत्र विरोधादिदूषणं चित्रज्ञानमेवापहस्तयतीति किं नश्चिन्तया। ततः स्याद्वादीनां सम्मतः स्थूलाकारः परमार्थ एव सिद्धः। एतेन तदभिमतः साधारणाकारोऽपि परमार्थतया सिद्धः

वे परमाणुओं का सम्बन्ध नहीं मानते हैं। यह सब कुछ होता है। विकल्प का प्रतिभास जिसे होता है उन्हें उनको प्रत्यक्ष के दृष्टापन की सिद्धि होती है, क्योंकि अदृष्ट में विकल्प का कोई संयोग नहीं होता है। यदि अदृष्ट में भी विकल्प की सिद्धि करेंगे, तो अति प्रसंग दोष आयेगा जिसे कि प्रायः कहा जा चुका है। बिना मिले हुए परमाणु मात्र को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के अभाव का प्रतिपादन हो चुका है। इसलिए जल ग्रहण आदि अर्थक्रिया की उत्पत्ति अन्यथा नहीं हो सकने से परमाणुओं का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है।

२९. और इस प्रकार कहने से चित्रज्ञान में प्रकाशित थोड़े से विशेषणों का एकदेश से और सर्वदेश से भी सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। जिससे सकल नील आदि निर्भास अवयवों में व्यापी एकत्व चित्रज्ञान में सिद्ध नहीं होता है। उन अवयवों की भिन्न कल्पना में चित्र को एक ज्ञान का व्यवहार नहीं होगा, जैसे कि भिन्न वर्णान्तर का विषय बनने से अनेक संतानों का एक-एक क्षण में कोई ज्ञान नहीं होता है। चित्र ज्ञान में कथंचित् ऐक्य होने से प्रत्यासत्ति विशेष क्या कोई दूसरी चीज हो ? देश प्रत्यासत्ति से शीत, वात आदि के साथ व्यभिचार आयेगा। काल प्रत्यासत्ति से एक समयवर्ती समस्त-पदार्थों से अनेकान्त दोष आयेगा। भाव प्रत्यासत्ति से एक अर्थ से उत्पन्न अनेक पुरुष ज्ञानों के द्वारा अनैकान्तिक दोष आयेगा। पारिशेष न्याय से द्रव्य प्रत्यासत्ति की ही संभावना रह जाती है। वह एक द्रव्य में ही तादात्म्य लक्षण वाली होने से प्रत्यासत्ति विशेष है। इस प्रकार चित्रज्ञान के एकत्व व्यवहार का निबन्धन कथंचित् ऐक्य ही है।

३०. इस प्रकार स्याद्वादियों के द्वारा इष्ट, सूक्ष्म-स्थूल स्वरूप वाली जात्यन्तर वस्तु में प्रमाण सिद्ध चित्रज्ञान की तरह वृत्ति दोष आदि समस्त दोष स्थान प्राप्त नहीं करते है। यहाँ, वहाँ सर्वत्र विरोध आदि दोष चित्रज्ञान को ही दूषित करते हैं, इसलिए हमें चिन्ता करने की क्या जरूरत है?

स्याद्वादिसंमतस्य सदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्याप्रतिक्षेपार्हत्वात्, अन्यथा शुक्तिकादे रजताद्यपेक्षया साधर्म्यदर्शनस्याभावात्, कथं तन्निबन्धनस्तत्र रूप्याध्यारोपः, यत इदं सूक्तं भवेत्।

''शुक्तौ वा रजताकारो रूपसाधर्म्यदर्शनात्॥''

[प्र० वा० १/४५] इति।

३१. न च साधर्म्यादपरं सामान्यमस्ति, तस्य नित्यव्यापि-स्वभावस्य क्व चिदप्यप्रतिवेदनात्। तथा स्याद्वादिसंमतः स्थिराकारः परमार्थ एव, चित्रज्ञानस्यैकस्य युगपदनेकाकारव्यापित्ववत् क्रमेण अप्येकस्यात्मादेरनेकाकारव्यापित्वसिद्धेः। तथैवोक्तं भट्टाकलङ्कदेवैः–

''यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद्व्याप्नोति वा सकृत्।
तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात्॥''

[लघी० श्लो० ३७] इति।

पूर्वोत्तरक्षणानां सर्वथानिरन्वयत्वे अर्थक्रियाविरोधाच्च। न हि क्षणक्षयैकान्तपक्षे अर्थक्रियोपपन्ना; बहिरन्तरर्थानां निरन्वयविनाशे कार्यस्य निर्हेतुकत्वापत्तेर्जन्मविरोधसिद्धेः।

३२. ननु पूर्वक्षणादुत्तरक्षणस्य प्रादुर्भावात् कुतो निष्कारणत्वं कार्यस्येति चेत्; न; कार्यकालम-

---

स्याद्वादियों को मान्य स्थूलाकार परमार्थ है और सिद्ध है। इससे स्याद्वादियों को स्वीकृत साधारण आकार भी परमार्थ से सिद्ध है। स्याद्वादियों के द्वारा सम्मत सदृश परिणाम लक्षण वाला सामान्य धर्म का भी आक्षेप कोई नहीं कर सकता है, अन्यथा मोती आदि में चाँदी आदि की अपेक्षा साधर्म्य दर्शन (सामान्य धर्म) का अभाव हो जायेगा। उस सादृश्य धर्म से सहित मोती आदि में चाँदी का अध्यारोप कैसे हो सकता है, जैसा कि कहा गया है–

''शुक्ति (मोती) में रजत आकार है रूप साधर्म्य का दर्शन होने से।'' (प्र० वा० १/४५)

३१. समान धर्मता से हटकर कोई दूसरा सामान्य नहीं होता है। नित्य, व्यापी स्वभाव वाला कोई पदार्थ कहीं भी प्रतिवेदन (ज्ञान) में नहीं आता है। तथा स्याद्वादियों को संमत स्थिराकार वाला सामान्य परमार्थ ही है। एक चित्र ज्ञान का एक साथ अनेक आकारों में व्यापी होने की तरह क्रम से भी एक आत्मा आदि को अनेक आकारों में व्यापीपन की सिद्धि हो जाती है। उसी तरह **भट्टाकलंकदेव** ने कहा है–''जिस प्रकार एक चित्रज्ञान भिन्नदेशों में स्थित अर्थों को करने वाला हो अथवा एक बार में व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार एक ही ज्ञान भिन्न काल में स्थित अर्थों को करे (अर्थात् जाने) अथवा क्रम से व्याप्त कर लेता है।''

''पूर्वोत्तर क्षणों का सर्वथा अन्वय से रहितता होने पर अर्थक्रिया का विरोध आता है। क्षण में क्षय मानने वाले एकान्त पक्ष में अर्थ क्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती है। बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग अर्थों का निरन्वय विनाश होने पर कार्य के निर्हेतुकपन की आपत्ति आती है, जिससे उस कार्य की उत्पत्ति का विरोध ही सिद्ध होता है।''

३२. **शंका–**पूर्वक्षण से उत्तरक्षण की उत्पत्ति होती है जिससे कार्य निष्कारण हो रहा है, यह

प्राप्नुवतः कारणत्वानुपपत्तेः, चिरतरातीतवत्।

३३. ननु कार्यकालं प्राप्नुवतोऽपि न कारणत्वम्, अन्यथा सर्वस्य समानक्षण-वर्तिनस्तत्कारणत्वप्रसंगात्। ततो यदान्वयव्यतिरेकानुविधायि कार्यं तदेव तस्य कारणम् ''नाननुकृत्वान्वय-व्यतिरेकं कारणम्'' इति वचनात् इति चेत्; न; क्षणक्षयैकान्ते अन्वयव्यतिरेकस्यैवाघटनात्।

३४. न खलु समर्थे कारणे सत्यभावतः स्वयमेव पश्चादभवतस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानं नाम नित्यवत्। ''स्वदेशवत् स्वकाले सति समर्थे कारणे कार्यं जायते नासति'' इत्येतावता क्षणिकपक्षे अन्वयव्यतिरेकानुविधाने नित्येऽपि तत् स्यात्; स्वकालेऽनाद्यनन्ते सति समर्थे नित्ये स्वसमये कार्यस्योत्पत्तेरसत्यनुत्पत्तेश्च प्रतीयमानत्वात्।

३५. सर्वदा नित्ये समर्थे सति स्वकाल एव कार्यं भवत् कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीति चेत्; तर्हि कारणक्षणात् पूर्वं पश्चाच्चानाद्यनन्ते तदभावेऽविशिष्टे क्वचिदेव तदभावसमये भवत् कार्यं कथं तदनुविधायीति समानम्। नित्यस्य प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे क्रमशोऽनेकस्वभावत्वसिद्धेः कथमेकत्वं

कैसे कह रहे हो ?

समाधान—नहीं, कार्य का समय प्राप्त नहीं प्राप्त करने वाले को कारणपना भी नहीं बन सकता है, जैसे अतीत में चिरकाल तक कार्य रहा है, वैसा ही बना रहेगा।

३३. **शंका—**तथा कार्य के काल को प्राप्त करने वाले को भी कारणपना नहीं बन सकता है, अन्यथा समानक्षणवर्ती सभी कार्यों के समान कारणपने का प्रसङ्ग आयेगा। इसलिए जो अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधायी कार्य है, वह कार्य उस अन्वय-व्यतिरेक के कारण है।

''जिसका अन्वय-व्यतिरेक नहीं है वही किसी का कारण नहीं बन सकता है।'' यह कहा गया है।

समाधान—नहीं, क्षणक्षय मानने वाले एकान्त पक्ष में अन्वय-व्यतिरेक ही घटित नहीं होता है।

३४. **बौद्ध—**समर्थकरण के होने पर अभाव से स्वयं ही कार्य हो जावे। बाद में नहीं होवे, इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक अनुविधान नित्य के समान नहीं है। ''स्वदेश की तरह'' स्वकाल रूप कारण के समर्थ होने पर कार्य होता है, अपने काल में समर्थ कारण नहीं होने पर नहीं होता है।'' इस नियम के द्वारा क्षणिक पक्ष में अन्वयव्यतिरेक का विधान नित्य होने पर भी वह बन जाता है। अनादि अनन्त स्व काल के होने पर, समर्थ नित्य कारण के होने पर, स्व समय में कार्य की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं होती है, इस प्रकार देखने में आता है।

३५ **जैन—**सर्वदा नित्य, समर्थ कारण होने पर स्वकाल में ही कार्य होता हुआ कैसे वह अन्वय-व्यतिरेक अनुविधायी कारण हो सकता है ? यदि ऐसा हो, तो फिर कारण क्षण से पहले और बाद में अनादि अनन्तकाल में उस कार्य का अभाव अविशिष्ट अर्थात् समानरूप मानने पर कहीं पर ही उस कार्य के अभाव समय में कार्य होता हुआ अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधायी कैसे हो? यह दोष भी पहले की तरह है। तथा प्रतिक्षण नित्य को अनेक कार्यकारी रूप से मानने पर क्रमशः अनेक

स्यादिति चेत्; क्षणिकस्य कथमिति समः पर्यनुयोगः। स हि क्षणस्थितिरेकोऽपि भावोऽनेकस्वभावो विचित्रकार्यत्वात् नानार्थक्षणवत्।

३६. न हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं युक्तं रूपादिज्ञानवत्। यथैव हि कर्कटिकादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथा क्षणस्थितेरेकस्मात् प्रदीपादिक्षणात् वर्तिकादाह-तैलशोषादिविचित्रकार्याणि शक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते, अन्यथा रूपादेरपि नानात्वं न स्यात्।

३७. ननु च शक्तिमतोऽर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयोः शक्तीनामघटनात्तासां परमार्थसत्त्वाभावः; तर्हि रूपादीनामपि प्रतीतिसिद्धद्रव्यादर्थान्तरविकल्पयोरसंभवात् परमार्थसत्त्वाभावः स्यात्। स्याद्वादिभिश्चित्र-ज्ञानवत् जात्यन्तरस्य शक्तिमतोऽर्थस्योपगमाच्च नोक्तदोषानुषङ्गः।

३८. अथ प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानत्वाद्रूपादयः परमार्थसन्तो न पुनस्तच्छक्तयस्तासामनुमानबुद्धौ प्रतिभासमानत्वात्; इत्यप्ययुक्तम्; क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादीनामपरमार्थसत्त्वप्रसंगात्। ततो यथा क्षणिकस्य युगपदनेककार्यकारित्वेऽप्येकत्वाविरोधस्तथा अक्षणिकस्य क्रमशोऽनेककार्यकारित्वेऽपीत्य-नवद्यं स्थिराकारोऽपि परमार्थ इति।

स्वभावपने की सिद्धि हो जाने से एकत्व कैसे हो सकता है ? तथा क्षणिक कारण के भी अनेक कार्यकारित्व होने पर एकत्व कैसे हो, यह समस्या दोनों (नित्यकारण, क्षणिक कारण) कारण मानने पर समान ही बनी रहेगी। वह क्षणस्थिति एक भाव वाली होकर भी विचित्रकार्य करने से अनेक अर्थ क्षण की तरह अनेक स्वभाव वाली होती है।

३६. तथा कारण शक्ति में भेद के बिना भिन्न-भिन्न कार्य होना सम्भव नहीं है। जैसे भिन्न-भिन्न रूप आदि के बिना भिन्न-भिन्न रूप आदि के ज्ञान बन नहीं सकते है। जिस प्रकार कर्कटिका आदि में रूप आदि अनेक ज्ञान उसके रूप आदि स्वभाव में भेद के कारण होते हैं, उसी तरह एक क्षणस्थिति वाले एक प्रदीप आदि से बाती, दाह, तैल-शोषण आदि विचित्र कार्य शक्ति में भेद के कारण बन जाते है, अन्यथा रूप आदि का भी अनेकपना नहीं होवे।

३७. यदि कहो कि अर्थ एवं अर्थान्तर के विकल्पों में शक्तिमान पदार्थ की शक्तियाँ घटित नहीं होने से उन शक्तियों में परमार्थ सत्त्व का अभाव है तो फिर रूप आदि को भी प्रतीति सिद्ध द्रव्य से उसी अर्थ एवं अर्थान्तर के पक्ष में संभव नहीं होने से रूपादि के भी परमार्थ सत्त्व का अभाव होगा। चूँकि स्याद्वादियों को चित्र ज्ञान की तरह जात्यन्तर (कथंचित् भेदाभेदात्मक) शक्ति वाला अर्थ स्वीकार है जिससे उक्त दोषों की प्राप्ति नहीं होती है।

३८. अब कहो कि प्रत्यक्षबुद्धि में रूप आदि प्रतिभासमान होने से परमार्थसत् होते है किन्तु उनकी शक्तियाँ नहीं क्योंकि वह शक्तियाँ अनुमान बुद्धि में प्रतिभासित होती हैं। तो यह कहना भी अनुचित है क्योंकि ऐसा मानने पर क्षणक्षय स्वरूप ही स्वर्ग प्राप्त कराने वाली शक्ति आदि के भी अपरमार्थ सत्त्व मानने का प्रसंग आयेगा। इसलिए जैसे क्षणिक पदार्थ का एक साथ अनेक कार्यकारित्व होने पर भी एकत्व का विरोध नहीं होता है उसी प्रकार नित्य का भी क्रम से अनेक कार्यकारित्व होने पर भी अविरोध होता है, इस प्रकार निर्दोष सिद्ध है और स्थिराकार भी परमार्थ है।

३९.तदेवं सकलबाधकाभावादप्रतिक्षेपार्हाणामार्हताभिमतानां स्थिरस्थूलसाधारणाकाराणां परमार्थत्व सिद्धेः अभ्रान्तेन तद्ग्राहिप्रत्यक्षेण स्वलक्षणलक्षणतत्त्वस्य विरुद्धत्वं सिद्ध्यत्येव।

४०. ननु नैष दोषः, सौगताभिमतस्वलक्षणतत्त्वस्य अवाच्यत्वादिति चेत्; तदसंगतम्; अवाच्यशब्देन स्वलक्षणतत्त्वस्य वाच्यत्वात् स्ववचनेनैव स्वप्रतिज्ञाहानेर्दर्शनात्।

४१. नन्ववाच्यशब्देनापि न स्वलक्षणस्वरूपमुच्यते तेनारोपितसामान्याकारस्यैवाभिधानादिति चेत्, व्याहतमेतत्। सामान्याख्यपररूपवाचिना अवाच्यशब्देन स्वलक्षणस्वरूपाभिधानस्य विरुद्धत्वात् नीलशब्देन पीताभिधानवत्। तदुक्तं युक्त्यनुशासने स्वामिभिः–

''अवाच्यमित्यत्र च वाच्यभावादवाच्यमेवेत्ययथाप्रतिज्ञम्।
स्वरूपश्चेत् पररूपवाचि स्वरूपवाचीति वचो विरुद्धम्॥''

[युक्त्यनु॰ श्लो॰ २९] इति।

४२. ततो नावाच्यतैकान्तः श्रेयानिति कथमपि प्रत्यक्षविरोधो दुःशकः परिहर्तुम्। तस्मात् सुव्यवस्थितेयं प्रतिज्ञा दृष्टविरुद्धं शाक्यशासनमिति।

---

३९. इस प्रकार सकल साधक कारणों का अभाव होने से **आर्हत मत** में अभिमत स्थिर, स्थूल, साधारण आकारों की किसी के भी द्वारा प्रतिक्षेप (तिरस्कार) के योग्य नहीं होने से उनकी परमार्थपने से सिद्धि होती है। अभ्रान्त और उस अभ्रान्त ग्राही प्रत्यक्ष ज्ञान से स्वलक्षण स्वरूप लक्षण तत्त्व (जो बौद्धों ने तत्त्व का अपना लक्षण बना लिया है, वह) विरुद्ध ही सिद्ध होता है।

४०. यदि कहो कि यह कोई दोष नहीं है क्योंकि सौगतों के द्वारा अभिमत स्वलक्षण वाला तत्त्व अवाच्य है। तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अवाच्य (कथन के अयोग्य) शब्द से अपने लक्षण वाला तत्त्व यदि वाच्य (कथन योग्य) हो गया तो स्ववचन से स्वप्रतिज्ञा की हानि ही देखी जाती है।

४१. यदि कहो कि अवाच्य शब्द के द्वारा भी स्वलक्षण का स्वरूप नहीं कहा जाता है। उस शब्द से आरोपित सामान्य आकार का ही कथन होता है तो वह भी निरस्त हो जाता है क्योंकि सामान्य नाम वाले पर रूप का कथन करने वाले अवाच्य शब्द से स्वलक्षण के स्वरूप का कथन विरोध को प्राप्त होता है जैसे नील शब्द से पीत पदार्थ का कथन करना विरुद्ध बात है। युक्त्यनुशासन में समन्तभद्र स्वामी ने कहा है–

''यदि तत्त्व अवाच्य है तो इसमें भी वाच्यभाव होने से सर्वथा अवाच्य तत्त्व ही है, यह प्रतिज्ञा यथावत् नहीं रही। यदि कहो कि तत्त्व स्वरूप से ही अवाच्य है तो यह स्वरूप का कथन है और यह पर रूप का कथन है, इस प्रकार वचनों में विरोध आता है।''

४२. इसलिए अवाच्यता का एकान्त भी श्रेयस्कर नहीं है, इस तरह प्रत्यक्ष विरोध किसी भी तरह दूर करना शक्य नहीं है। इसलिए यह प्रतिज्ञा सुव्यवस्थित हो जाती है अर्थात् अच्छी तरह सिद्ध होती है कि शाक्यशासन दृष्टविरुद्ध है।

४३. तथा ताथागतशासनमिष्टविरुद्धम्। तदभिमत-क्षणक्षयैकान्तविरुद्धस्य आत्मादीनां कथंचिन्नित्यत्वस्यानुमानेन साधनात्। तथा हि–यत् सत् तत्सर्वं कथंचिन्नित्यम्, सर्वथा क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् सत्त्वानुपपत्तेः इति। अत्र न तावद्धेतोरनैकान्तिकत्वम्; सर्वथा नित्यत्वे सत्त्वस्याभावात्, सर्वथा क्षणिकत्ववत्। तदभावश्च क्रमाक्रमानुपपत्तेः। तदनुपपत्तिश्च पूर्वापर-स्वभावत्यागोपादानान्वितरूपाभावात्; सकृदनेक-शक्त्यात्मकत्वाभावाच्च। न हि कूटस्थे पूर्वोत्तरस्वभाव-त्यागोपादाने स्तः; क्षणिके चान्वितं रूपमस्ति यतः क्रमः कालकृतो देशकृतो वा स्यात्। नापि युगपदनेकस्वभावत्वं यतो यौगपद्यम्, कौटस्थ्यविरोधात्, सर्वथैकरूपत्वात् कूटस्थस्य। ''एकरूपतया तु यस्त्रिकालव्यापी सः कूटस्थः'' इत्यभिधानात्, निरन्वयक्षणिकत्वव्याघाताच्च, तथा क्रमाक्रमा-नेकान्तात्मकस्यैव सिद्धेः। सहकारिक्रमाक्रमापेक्षया तत्र क्रमयौगपद्यकल्पनापि न साधीयसी; स्वयं तदपेक्षाक्रमेतरस्वभावत्वाभावे तदनुपपत्तेः।

४४. तत्कार्याणां तदपेक्षा न पुनर्नित्यस्य क्षणिकस्य चेत्यपि न श्रेयः, तेषां तदकार्यत्वप्रसंगात्।

---

४३. उसी तरह यह ताथागत शासन इष्टविरुद्ध भी है क्योंकि बौद्धों के द्वारा मान्य क्षणक्षय रूप एकान्त के विरोध की सिद्धि होती है। वह विरोध आत्मा आदि पदार्थों में कथंचित् नित्यत्व के अनुमान से सिद्ध होता है। वह इस प्रकार है–जो सत् है, वह कथंचित् नित्य है क्योंकि सर्वथा क्षणिक वस्तु में क्रम और युगपत् धर्म के द्वारा अर्थ क्रिया का विरोध आता है जिससे सत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती है। यहाँ वह हेतु अनैकान्तिक नहीं है क्योंकि सर्वथा नित्यत्व अर्थ में भी सत्त्व का अभाव है जैसे सर्वथा क्षणिक अर्थ में होता है। वह अभाव क्रम तथा युगपत् की एक साथ सिद्धि नहीं होने से होता है। वह सिद्धि भी इसलिए नहीं होती क्योंकि पूर्व स्वभाव का त्याग और अगले स्वभाव का ग्रहण होने में ध्रौव्य रूप का अभाव होता है तथा एकबार में अनेक शक्तियों की प्राप्ति का अभाव रहता है। कूटस्थ पदार्थ में पूर्व स्वभाव का त्याग और अगले स्वभाव का ग्रहण दोनों ही नहीं होते हैं। क्षणिक में अन्वित (ध्रौव्य) रूप नहीं होता है, जिससे वह क्रम कालकृत अथवा देशकृत होवे। और युगपत् अनेक स्वभावपने की प्राप्ति नहीं होती है जिससे यौगपद्य सिद्ध हो तथा यौगपद्य उत्पत्ति मानने पर कूटस्थ धर्म का विरोध होता है क्योंकि कूटस्थ पदार्थ सर्वथा एकरूप रहता है। कहा भी है–''जो एकरूप वाला होने से त्रिकाल व्यापी है, वह कूटस्थ है।'' तथा निरन्वय (ध्रौव्य रहित) क्षणिकत्व का भी व्याघात होता है। इस तरह क्रम, अक्रमपना अनेकान्तात्मक वस्तु का ही सिद्ध होता है। सहकारी क्रम-विक्रम की अपेक्षा से उस नित्य वस्तु में क्रम और यौगपद्य की कल्पना भी नहीं साधी जा सकती है। स्वयं सहकारी की अपेक्षा क्रम-अक्रम स्वभावत्व का अभाव होने पर नित्य या क्षणिक वस्तु की सिद्धि नहीं होती है।

४४. यदि कहो कि क्रम-अक्रम कार्यों में सहकारी की अपेक्षा होती है किन्तु नित्य वस्तु अथवा क्षणिक वस्तु के नहीं, तो यह कहना भी हितकर या श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि उन समस्त कार्यों के न होने का ही प्रसंग आ जायेगा।

४५. तत्सहितेभ्यः सहकारिभ्यः कार्याणामुत्पत्तेः, अन्यथाऽनुत्पत्तेस्तत्कार्यत्वनिर्णयः इति चेत् तर्हि येन स्वभावेनैकेन सहकारिणा सहभावः तेनैव सर्वसहकारिणा यदि तस्य स्यात् तदैककार्यकरणे सर्वकार्यकरणात् क्रमकार्यानुत्पत्तिः। सहकार्यान्तराभावेऽपि च तत्सहभावात् सकृदेव सकलकार्योत्पत्तिः प्रसज्येत। स्वभावान्तरैः सहकार्यन्तरसहभावे तस्य क्रमाक्रमवृत्त्यनेकस्वभावत्वसिद्धेः कुतो नित्यमेकत्वस्वभावं क्षणिकं वा वस्तु क्रमयौगपद्ययोर्व्यापकं स्यात्, कथंचिन्नित्यस्यैव क्रमाक्रमानेकस्वभावस्य तद्व्यापकत्वप्रतीतेः।

४६. एतेन विपक्षे हेतोर्बाधकस्य व्यापकानुपलम्भस्य व्यतिरेकनिश्चयः कथंचिन्नित्ये प्रत्यक्षप्रवृत्तेः प्रदर्शितः प्रत्येयः। ततः सत्यं कथंचिन्नित्यमेव साधयतीति सिद्धं शौद्धोदनिशासनमिष्टविरुद्धमति।

४७.तथा च शुभाशुभानुष्ठान-पुण्य-पाप-श्वभ्र-स्वर्गादि-परलोक-बन्ध-बन्धकारण-मोक्ष-मोक्ष-कारण-बन्धमोक्षफल-बद्ध-मुक्तादिपरोक्षतत्कारणस्वरूपप्रतिपादकोऽपि बौद्धागमो न प्रमाणम्; दृष्टेष्ट-विरुद्धागमसमकर्तृकस्य तस्यातीन्द्रियेष्वतितरामप्रामाण्यापत्तेरिति न बौद्धानां धर्मानुष्ठानं प्रतिष्ठा-मियर्ति।

विशेष—क्रम-अक्रम व्यापक की अनुपलब्धि से कार्य की अनुपलब्धि दिखाकर विषम-व्याप्ति से अर्थक्रियाकारित्व का सर्वथा क्षणिक वस्तु में खण्डन किया गया है।

४५. क्रम-अक्रम सहकारी कारणों की अपेक्षा से ही कार्यों की उत्पत्ति होती है, अन्यथा उत्पत्ति नहीं होती है, इस अनुमान से उस कार्यत्व का निर्णय होता है, इस प्रकार यदि कहते हो तो फिर जिस स्वभाव से एक सहकारी कारण का सहभाव है उसी स्वभाव से सभी सहकारी कारणों का सहभाव यदि कार्य का होता है तो एक कार्य करने में समस्त कार्यों के हो जाने से क्रम से कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी। (क्योंकि प्रत्येक कार्य के लिए सहकारी कारण अलग होते हैं।) उस अन्य सहकारी कारण का अभाव होने पर भी क्रम-अक्रम सहकारी सहभाव होने से एक साथ ही समस्त कार्यों की उत्पत्ति का प्रसंग आ जायेगा। स्वभावान्तर के साथ कार्यान्तर का सहभाव होने पर उस कार्य में क्रम-अक्रम अनेक स्वभावों की सिद्धि होगी फिर वस्तु नित्य, एकत्व स्वभाव वाली अथवा क्षणिक होकर कैसे क्रम और यौगपद्य धर्मों में (कार्यों में) व्यापक होगी। क्रम-अक्रम अनेक स्वभाव वाली कथंचित् नित्य वस्तु की ही व्यापकत्व की प्रतीति होती है।

४६. इससे क्रम-अक्रम कार्य में व्यापक की उपलब्धि नहीं होने वाले बाधक हेतु का विपक्ष में व्यतिरेक (विषमव्याप्ति) का निश्चय होता है। कथंचित् नित्य में प्रत्यक्ष प्रवृत्ति दिखाई गई है, उसे ही जानना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि जो सत् है वह कथंचित् नित्य वस्तु में ही सिद्ध होता है। इस प्रकार शौद्धोदनि शासन इष्ट विरुद्ध सिद्ध होता है।

४७. तथा शुभ-अशुभ-अनुष्ठान, पुण्य-पाप, नरक-स्वर्ग आदि परलोक, बन्ध, बन्धकारण, मोक्ष, मोक्ष का कारण, बन्ध और मोक्ष का फल, बद्ध, मुक्त आदि परोक्षभूत तथ्य, उनके कारण तथा स्वरूप का प्रतिपादक भी बौद्धागम प्रमाण नहीं है क्योंकि दृष्ट-इष्ट विरुद्ध आगम के समान उस कर्ता की अतीन्द्रिय पदार्थों में स्पष्ट रूप से अप्रामाण्य की आपत्ति है। इस तरह बौद्धों का धर्मानुष्ठान

किं बहुना, बौद्धैर्यद्यदभिधीयते तत्सर्वमसदेव तदभिमतसर्वतत्त्वस्य शून्यत्वात्।

४८. तथा हि विकल्पोऽभिलापसम्बन्धार्थग्रहणरूपः परैरिष्टः। स च नास्त्येव। न हि तावद्विषयस्याभिलापेन तद्गतेनैव सम्बन्धः, तत्र तदभावात्। स्मरणोपनीतेन संकेतकालप्रतिपन्नेनेति चेत्; न; स्मरणस्य निर्विकल्पकत्वे तद्विषयस्य स्वलक्षणत्वे न क्वचिदुपनयनानुपपत्तेः। व्यवसायरूपत्वे च तेनापि स्वविषयोऽभिलापसम्बन्ध एव स्मर्त्तव्यः। तदभिलापोऽपि तथाविध एव तत्स्मरणेनेत्यनवस्थितिप्रसंगात्। स्मरणस्य तदनभिसम्बन्ध वस्तुवेदित्वेऽपि व्यवसायस्वभावत्वे प्रत्यक्षस्यापि तत्किं न स्यात्, ''स्वाभिधान-विशेषापेक्षया एवार्था निश्चयैर्व्यवसीयन्ते'' इत्येकान्तत्यागात्। नाम्नः स्वलक्षणस्यापि स्वाभिधान-विशेषानपेक्षस्यैव व्यवसायवचनात्।

४९. एवमनवस्थादिदोषोपनिपातान्नामस्मरणोभावेन क्वचिद्विकल्पा न सिद्ध्येत्। स्मरणोपनीत-नामसंबद्धार्थग्रहणस्यैव विकल्पत्वात्। विकल्पाभावेन न क्वचित्प्रत्यक्षम्। अकृतविकल्पेन प्रत्यक्षेण बहिरन्तर्वा गृहीतस्याप्यगृहीतकल्पत्वात् क्षणक्षयादि-संवेदनवत्। प्रत्यक्षाभावे न क्वचिदनुमानम्

प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता है। ज्यादा क्या कहें बौद्धों के द्वारा जो जो कहा गया है वह सब असत् ही है क्योंकि उनके द्वारा मान्य सभी तत्त्व का शून्यपना सिद्ध होता है।

४८. तथा बौद्धों को विकल्प इष्ट है, जो विकल्प अभिलाप सम्बन्ध से अर्थ को ग्रहण करने रूप है। वह विकल्प भी कोई तथ्य नहीं है। प्रथम तो यह कि विषय का तद्गत अभिलाप (कथन) से ही सम्बन्ध नहीं है क्योंकि अर्थ में उस अभिलाप सम्बन्ध का अभाव है। यदि कहो कि स्मरण के द्वारा लाये गये तथा संकेतकाल में जाने गये अभिलाप से है तो सो भी नहीं है क्योंकि स्मरण को निर्विकल्पपना है, जिससे उस विषय की स्वलक्षणपने में कहीं निकटता प्राप्त नहीं होती है।

और उस विकल्प का व्यवसायरूपत्व है, ऐसा मानने पर भी उससे अपने विषयगत अभिलाप सम्बन्ध ही स्मरण करने योग्य है। वह अभिलाप भी उसी प्रकार का ही है, क्योंकि वह स्मरण से ही हो रहा है, इस प्रकार अनवस्थिति का प्रसंग आता है। स्मरण के सम्बन्ध से रहित वस्तु का ज्ञान हो जाने पर भी स्मरण को व्यवसाय स्वभावपना होता है, ऐसा होने पर वह व्यवसाय स्वभावत्व प्रत्यक्ष को क्यों नहीं होवे? अर्थात् अवश्य होगा, क्योंकि ''अपने अभिधान (वाचक शब्द) विशेष की अपेक्षा से ही पदार्थ निश्चय से निश्चित किए जाते हैं अर्थात् निर्णीत होकर जाने जाते हैं।'' इस एकान्त नियम का त्याग हो जाता है। स्वलक्षण वाले नाम को भी स्व अभिधानविशेष की अपेक्षा नहीं होने से ही व्यवसाय रूप कहा जाता है।

४९. इस प्रकार अनवस्था आदि दोषों के उपनिपात से नामस्मरण के अभाव द्वारा क्वचित् विकल्प सिद्ध नहीं होते हैं, क्योंकि स्मरण से प्राप्त हुए असम्बद्ध अर्थ के ग्रहण का ही विकल्पत्व होता है। विकल्प के अभाव से कहीं प्रत्यक्ष नहीं है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष से बहिरंग अथवा अन्तरंग अर्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान के भी अग्रहीत विकल्पपना होता है, जैसा कि क्षणक्षय आदि के

प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्तस्येति सकलप्रमाणाभावः। तदभावे सकलप्रमेयाभावः, प्रमाणापाये प्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेरिति सौगताभिमतं सर्वं तत्त्वं शून्यमेव स्यात्।

५०. तथा च सौगतो हेयोपादेयोपायरहितोऽयमह्रीकः केवलं विक्रोशतीत्युपेक्षार्ह एवेति कृतमतिविस्तरेण, दृष्टेष्टविरुद्धत्वात् तन्मतस्यासत्यत्वसिद्धेः।

दृष्टेष्टेषु दृष्टेष्टविरोधात् सुगतोदितः।
परोक्षेषु तदेकत्वादागमो न प्रमाणताम्॥
विकल्पाभावतः सर्वहानेर्बौद्धवचोऽखिलम्।
भवेत्प्रलापमात्रत्वान्नावधेयं विपश्चिताम्॥
दृष्टेष्टाभ्यां विरुद्धत्वान्न सत्यं शाक्यशासनम्।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्येति निश्चितम्॥

[इति बौद्धशासनपरीक्षा]

संवेदन में होता है। प्रत्यक्ष का अभाव सिद्ध होने पर कहीं अनुमान प्रमाण भी नहीं टिकता है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है, इस तरह समस्त प्रमाणों का अभाव हुआ। प्रमाण के अभाव में समस्त प्रमेयों का भी अभाव होता है, क्योंकि प्रमाण का विनाश (अभाव) होने पर प्रमेय की व्यवस्था सिद्ध के द्वारा मान्य सभी तत्त्व शून्य ही हैं।

५०. इस प्रकार यह सौगत हेय-उपादेय के उपाय से रहित निर्लज्ज है। केवल क्रोध करता है, इसलिए उपेक्षा के योग्य ही है। अतिविस्तार से क्या? क्योंकि दृष्ट, इष्ट प्रमाण से विरुद्धपना होने से सौगत मत की असत्यता सिद्ध है। ''प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के विषयों में प्रत्यक्ष और अनुमान से विरोध आने के कारण सुगत के द्वारा कहा हुआ आगम भी प्रमाणता को प्राप्त नहीं है, क्योंकि परोक्ष प्रमाणों में भी प्रत्यक्ष से एकत्व है। विकल्प के अभाव से सब कुछ नष्ट हो जाने से बौद्ध के समस्त वचन प्रलापमात्रत्व होने से बुद्धिमानों के द्वारा अवधारणयोग्य नहीं हैं।

दृष्ट इष्ट प्रमाणों से विरुद्धपना होने से शाक्य शासन सत्य नहीं है और उससे स्याद्वाद को कोई आघात नहीं है, यह भी निश्चित हुआ।

[इति बौद्धशासनपरीक्षा]

७.
सांख्यशासन-परीक्षा
[पूर्वपक्षः]

१. तथा सांख्यशासनमपि दृष्टेष्टविरुद्धम्। एवं हि तावदाख्यान्ति सांख्याः–सर्वमिदं जगत्प्रधानमयम्; प्रधानं च सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थास्वरूपम्। तथा च तद्ग्रन्थाः-

''सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमवष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः साम्यावस्था भवेत्प्रकृतिः॥''
[सांख्यका० १३]

२. तत्र यदिष्टं प्रकाशकं लघु तत्सत्त्वमित्युच्यते। सत्त्वोदयात् प्रशस्ता एव परिणामा जायन्ते। यच्च चलमवष्टम्भकं दारकं ग्राहकं वा तद्रज इत्युच्यते। रजस उदयाद्रागपरिणामा एव जायन्ते। यद्गुरु आवरणकमज्ञानहेतुभूतं तत्तम इति निरूप्यते। तमस उदयात् द्वेषादज्ञानपरिणामा एव जायन्ते। सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

''प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्यादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥''
[सांख्यका० २२]

---

७. सांख्यशासन परीक्षा
[पूर्व पक्ष]

१. इसी तरह सांख्यशासन भी द्रष्ट एवं इष्ट प्रमाण से विरुद्ध है। सांख्य लोग इस प्रकार कहते हैं–यह समस्त जगत् प्रधानमय है। तथा वह प्रधान सत्त्व, रज और तम की साम्य अवस्था रूप होता है। जैसा कि उनके ग्रन्थ में है–

''सत्त्व गुण हल्का तथा प्रकाशक है। रजोगुण चञ्चल तथा प्रवर्तक माना गया है। तमोगुण ही भारी तथा अवरोधक माना गया है। इन गुणों की साम्यावस्था प्रकृति हो'' (सांख्यकारिका/ १३)।

२. उनमें जो इष्ट प्रकाशक और लघु है वह सत्त्व कहलाता है। सत्त्व के उदय से प्रशस्त ही परिणाम उत्पन्न होते हैं। जो चल, अवष्टम्भक, दारक और ग्राहक होता है वह रज कहलाता है। रज के उदय से राग परिणाम ही उत्पन्न होते हैं। जो भारी तथा अज्ञान का हेतुभूत आवरण करने वाला है वह तमो गुण कहा जाता है। तमो गुण के उदय से द्वेष होता है और उससे अज्ञान परिणाम ही उत्पन्न होते हैं। सत्त्व, रज और तम की साम्य अवस्था का नाम प्रकृति है।

''प्रकृति से महान्, उससे अहंकार होता है, अहंकार से सोलह गण बनते हैं, उस सोलह गणों से और पंच तन्मात्राओं से पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं।'' (सांख्यकारिका /२२)।

३. जगदुत्पादिका प्रकृतिः, ''प्रधानं बहुधानकम्'' इति प्रकृतेरभिधानानि। ततः प्रकृतेर्महानुत्पद्यते। आसर्गप्रलयस्थायिनी बुद्धिर्महान्। ततो महतः सकाशादहंकार उत्पद्यते। ''अहं ज्ञाता, अहं सुखी, अहं दुःखी'' इत्यादि प्रत्ययविषयः। ततोऽहंकाराद् गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः, पञ्चतन्मात्राः, स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्राणि पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि, वाक्-पाणि-पादपायूपस्थानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, मनश्चेति षोडशगणाः समुत्पद्यन्ते। तेषु षोडशगणेषु पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि समुत्पद्यन्ते।

४. तद्यथा-गन्धरूपरसस्पर्शेभ्यः पृथ्वी, रसरूपस्पर्शेभ्यो जलम्, रूपस्पर्शाभ्यां तेजः, स्पर्शाद्वायुः, शब्दादाकाशः समुत्पद्यत इति सृष्टिक्रमः। एतानि चतुर्विंशतितत्त्वानि। पञ्चविंशको जीवः। षड्विंशकः परम इति निरीश्वरसांख्याः। षड्विंशको महेश्वरः, सप्तविंशतिः परम इति सेश्वरसांख्याः। तेषु तत्त्वेषु-

''मूलप्रकृतिरविकृतिर्महादाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥''

[सांख्यका० ३]

---

३. जगत् को उत्पन्न करने वाली प्रकृति है। प्रधान, बहुधानक इस प्रकृति के ही नाम हैं। उस प्रकृति से महान् उत्पन्न होता है। उत्पत्ति से प्रलय तक स्थायी रहने वाली बुद्धि महान् है। उस महान् से अहंकार उत्पन्न होता है। मैं ज्ञाता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादि प्रत्यय विषय वाला अहंकार है। उस अहंकार से गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द वाले पञ्च तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच बुद्धि इन्द्रियाँ हैं। वचन, हाथ, पैर, मल द्वार तथा मूत्रद्वार ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। पाँच तन्मात्रा, पाँच बुद्धि इन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन ये सोलह गण अहंकार से उत्पन्न होते है। उन सोलह गणों में पञ्च तन्मात्राओं से पंचभूत उत्पन्न होते हैं।

४. वह इस प्रकार है-गन्ध, रूप, रस और स्पर्श से पृथ्वी। रस, रूप और स्पर्श से जल। रूप और स्पर्श से अग्नि, स्पर्श से वायु और शब्द से आकाश उत्पन्न होता है, इस प्रकार सृष्टि का क्रम है। यह चौबीस तत्त्व हैं। पच्चीसवाँ जीव है। छब्बीसवाँ मुक्त है, इस प्रकार निरीश्वर सांख्य मानते हैं। सेश्वर (ईश्वर की मान्यता सहित) सांख्य मानते हैं कि छब्बीसवाँ महेश्वर है और सत्तावीसवाँ परम (मुक्त) है। उन तत्त्वों में-

''मूलकारण प्रकृति (प्रधान) है, वह स्वयं किसी का विकार नहीं है (अविकृति है)। महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्रायें ये सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत ये सोलह तत्त्व विकृतिरूप (कार्य) ही हैं। पुरुष प्रकृति और विकृति इन दोनों से रहित है।'' (सांख्यकारिका / ३)।

विशेषार्थ-सांख्य दो प्रकार के हैं। एक ईश्वर को नहीं मानते हैं। इन्हें निरीश्वर सांख्य कहते हैं। इनका मानना है कि किसी भी प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है, इसलिए ईश्वर नहीं है। ब्रह्मसूत्र में निर्दिष्ट सांख्य निरीश्वरवादी हैं। उपनिषत्कालीन सांख्य ईश्वरवादी हैं। सांख्यों ने मूल २५ तत्त्व माने हैं। इनको चार भागों में विभाजित किया है। १. प्रकृति, २. विकृति, ३. प्रकृति-

५. इत्येवं प्रकृतिपुरुषयोर्भेदविज्ञानात् प्रकृतिनिवृतौ पुरुषस्य सुषुप्तपुरुषवदव्यक्तचैतन्योपयोगेन स्वरूपमात्रावस्थानलक्षणो मोक्षः। तस्य चोपायः पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानमेव।

''पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे स्थितः।
जटी मुण्डी शिखी केशी मुच्यते नात्र संशयः॥''

इति वचनात्।

[उत्तरपक्षः]

६. तदेतत्कपिलमतं दृष्टविरुद्धम्। तथा हि–तावत्पुरुषव्यतिरिक्तसर्वार्थाः प्रधानमयाः कापिलैरिष्टाः। तच्च प्रधानं वर्तते तस्य व्यापकत्वेनाभ्युपगमात्, सर्वत्र च संपूर्णतया वर्तते तस्य सर्वथानिरवयवत्वेनेष्टत्वात्। तथा च ''सर्वं सर्वत्र वर्तते'' इत्यायातम्। ''सर्वमयं प्रधानं सर्वत्र साकल्येन वर्तते'' इत्यभ्युपगमे ''सर्वं सर्वत्र वर्तते'' इत्यस्यावश्यमभ्युपगन्तव्यत्वात्।

७. नन्विष्टापादनमिदं सर्वं सर्वत्र चास्त इति कापिलैरुररीकरणादिति चेत्; तदिदं हि स्पष्टं दृष्टविरुद्धम्; प्रत्यक्षेण प्रतिनियतदेशकालस्यैवार्थस्य दर्शनात्। न हि प्रत्यक्षेण सर्वं सर्वत्र दृश्यते। अङ्गुल्यग्रे

विकृति, ४. न प्रकृति न विकृति। प्रकृति–वह तत्त्व जो सबका कारण तो है, परन्तु स्वयं किसी का विकार नहीं है। विकृति–कुछ तत्त्व जो उत्पन्न तो होते हैं, किन्तु अन्य किसी को उत्पन्न नहीं करते हैं। ये तत्त्व १६ हैं। प्रकृतिविकृति–जो किन्हीं से उत्पन्न भी हों और उत्पन्न भी करें, उन्हें प्रकृतिविकृति कहते हैं। उपर्युक्त सांख्य कारिका में लिखित सात तत्त्व प्रकृतिविकृति हैं। एक पुरुष तत्त्व है जो न किसी से उत्पन्न होता है, न किसी को उत्पन्न करता है, इसलिए वह न प्रकृति है न विकृति है।

५. इस तरह प्रकृति और पुरुष में भेदविज्ञान हो जाने से प्रकृति की निवृत्ति हो जाती है। ऐसा होने पर पुरुष को सुषुप्त पुरुष के समान अव्यक्त चैतन्य उपयोग से स्वरूप मात्र में रहना होता है जिसे मोक्ष कहते हैं। उस मोक्ष का उपाय पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान है।

''जो पच्चीस तत्त्वों का ज्ञाता है, वह जिस किसी भी आश्रम में रहता हुआ जटी, मुण्डी, शिखी, केशी हो उसे मुक्ति की प्राप्ति होती है, इसमें कुछ संशय नहीं है।''

[उत्तरपक्ष]

६. वह यह कपिल का मत दृष्ट विरुद्ध है। वह इस प्रकार है–कपिल मत वालों ने माना है कि पुरुष को छोड़कर सभी अर्थ प्रधानमय हैं। वह प्रधान नित्य होने से सर्वदा रहता है। क्योंकि वह प्रधान व्यापकत्व रूप से स्वीकारा गया है, इसलिए सर्वत्र रहता है। वह सर्वत्र सम्पूर्ण रूप से रहता है क्योंकि वह प्रधान सर्वथा निरयव रूप से इष्ट है, जिससे सिद्ध होता है कि वह ''पूर्णरूप से सर्वत्र रहता है।'' ''सर्वमय वह प्रधान सर्वत्र पूर्णरूप से रहता है।'' यह स्वीकार करने पर सब कुछ सर्वत्र रहता है। यह अवश्य ही स्वीकार करने योग्य माना गया है।

७. यदि कापिलों ने यह माना है कि इष्ट को प्राप्त कराने वाला यह प्रधान सब कुछ है और सर्वत्र रहता है तो यह स्पष्ट रूप से दृष्ट विरुद्ध है क्योंकि प्रत्यक्ष से किसी निश्चित, नियत देश और

हस्तियूथ-शतादेरपि दर्शनप्रसंगात्।

८. ननु नैष दोषः सर्वस्य सर्वत्र सद्भावेऽपि यत्र यस्याविर्भावः स एव तत्र दृश्यते न पुनरन्यस्तिरोहितः, इत्यर्थानां दर्शनयोग्यत्वव्यवस्थितेरिति चेत्; कोऽयमाविर्भावो नाम-प्रागनुपलब्धस्य व्यञ्जक-व्यापारादुपलम्भ इति चेत्; स च नित्यो वाऽनित्यो वा; यद्यनित्यः, तदा स प्रागसन् कारणैः क्रियेत, अन्यथा नित्यत्वप्रसंगात्, तथा च घटादिरपि तद्वत् प्रागसन् कारणैः क्रियाताम्, न चैवं, सत्कार्यवादविरोधात्। आविर्भावः प्रागसन् कारणैः क्रियेत न पुनर्घटादिरिति स्वरुचिवचनमात्रं निरुपपत्तिकत्वात्। यदि नित्यः, तदा तदेव सर्वत्र सर्वस्य दर्शनं स्यात्, आविर्भावस्य सदा सत्त्वात्।

९. अथाविर्भावस्य प्राक्तिरोहितस्य सत एव कारणैः आविर्भावान्तरमिष्यते, तर्हि तस्याप्यन्य-त्तस्याप्यन्यदाविर्भावन-मित्यनवस्थानान्न कदाचित् घटादेराविर्भावः स्यात्।

नियत काल स्वरूप ही अर्थ देखा जाता है। प्रत्यक्ष से सब कुछ सर्वत्र नहीं दिखाई देता है। यदि ऐसा होने लगे तो अंगुलि के अग्रभाग पर सैकड़ों हाथियों आदि के भी दर्शन होने का प्रसंग आ जायेगा।

८. यह कोई दोष नहीं है। सब कुछ सर्वत्र रहने पर भी जहाँ पर जिसका प्रकट होना होता है, वह ही वहीं दिखाई देता है, अन्य नहीं क्योंकि वह तिरोहित (छिपा हुआ) होता है।

इस प्रकार से अर्थों (पदार्थों) के दर्शन की योग्यता और अयोग्यता की व्यवस्था यदि आप मानते हैं तो मैं पूछता हूँ कि आविर्भाव (प्रकट होना) किसे कहते हैं ?

यदि कहो कि पहले तो उपलब्ध नहीं था वही व्यञ्जक (प्रकट करने वाले निमित्त) के व्यापार से दिखाई देने लगता है, यही आविर्भाव है।

तो यह बताओ कि वह आविर्भाव नित्य है अथवा अनित्य है। यदि अनित्य है तो वह पहले नहीं था, कारण से किया गया ऐसा मानना होगा अन्यथा नित्यत्व का प्रसंग आयेगा। उसी तरह घट आदि भी उस अनित्य आविर्भाव की तरह पहले नहीं होते हुए कारण ने किये ऐसा जानना, किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि सत्कार्यवाद से विरोध आता है। आविर्भाव पहले नहीं था कारणों ने किये किन्तु घट आदि नहीं बनाए हैं, यह अपनी रूचि के वचनमात्र है जो सिद्ध नहीं होते है। यदि वह आविर्भाव नित्य है तो उसका सर्वत्र सभी को दर्शन होवे क्योंकि आविर्भाव का हमेशा अस्तित्व है।

विशेष—जो कार्य को सदैव सत् रूप ही मानते हैं, वे सत्कार्यवादी कहलाते हैं। सांख्य मानते हैं कि कार्य उत्पन्न होने के पहले भी कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। तिल में तेल, दूध में दही पहले से विद्यमान है, तभी तो इनसे इनकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसी को सत्कार्यवादी मान्यता कहते हैं।

९. यदि कहो कि आविर्भाव पहले से तिरोहित हुआ सत् रूप ही था किन्तु कारणों के मिलने से अन्य एक नए आविर्भाव को कहा जाता है, ऐसा स्वीकारते हैं तो फिर उस दूसरे आविर्भाव का भी अन्य कारणों से, उसका भी अन्य कारणों से आविर्भाव होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष से कभी भी घट आदि का आविर्भाव नहीं होगा।

१०. अथाविर्भावस्योपलम्भरूपस्य तद्रूपाविर्भावान्तरानपेक्षत्वात् प्रकाशस्य प्रकाशान्तरा-नपेक्षत्व-वन्नानवस्थेति मतम्; तर्हि तस्य कारणस्य कारणादात्मलाभोऽभ्युपगन्तव्यः, उत्पत्ति-अभिव्यक्तिभ्यां प्रकारान्तराभावात् तत्र चोक्तदोष इति नाविर्भावः सिद्ध्येत्।

११.यत्तेन तिरोभावेऽपि प्रत्यादिष्टप्रायः तस्य नित्यानित्यपक्षयोरुक्तदोषानुषङ्गात्। आविर्भावस्य निरस्तत्वेन तृतीयपक्षस्य चाऽसंभवात्। एवमाविर्भावतिरोभावयोरसिद्धौ तद्वशात् क्व चित्कस्यचित् प्रतीतेरनुपपत्तेः सर्वं सर्वत्र दृश्यताम्। न चैवम्; इति प्रत्यक्षविरोधस्तदवस्थ एव।

१२. तथा सत्युपलब्धियोग्यत्वे सत्यनुपलब्धेः नास्ति प्रधानम्। तदभावे तन्निमित्तका महदादयोऽपि न सिद्ध्येयुरिति सर्वाभावः। तथापि यदि वैय्यात्यात् महदादिसृष्टिप्रक्रियोच्यते, तदायं प्रष्टव्यः–किमिदं महदादिकं प्रधानस्य कार्यं वा परिणामो वेति, प्रथमपक्षे न तावत् सतस्तस्य कार्यत्वम्; सर्वथा सतः कारणवैय्यर्थात् पुरुषवत्।

''यदि सत् सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति।''

[आप्तमी० श्लो० ३९] इति वचनात्।

---

१०. यदि कहो कि आविर्भाव पहले से उपलब्ध रहता है, क्योंकि उसे उसी रूप वाले किसी दूसरे आविर्भाव की अपेक्षा नहीं रहती है। जैसे प्रकाश को किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती है, इसलिए अनवस्था दोष नहीं आता है, तो फिर उस कारण का कारण से आत्मलाभ (प्राप्ति) होता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए क्योंकि उत्पत्ति और अभिव्यक्ति इन दोनों से अन्य प्रकारान्तर का अभाव है। उसमें भी कहे हुए दोष होंगे, इस तरह आविर्भाव सिद्ध नहीं होता है।

११. इसलिए उस आविर्भाव के सदोष सिद्ध हो जाने से तिरोभाव में भी प्रायः वही प्रत्यादेश अर्थात् खण्डन समझना चाहिए क्योंकि उस तिरोभाव को भी नित्य अथवा अनित्य मानने में आविर्भाव में कहे दोष आते हैं। आविर्भाव का खण्डन हो जाने से ही तीसरा पक्ष भी असंभव है। इस प्रकार प्रधानमय आविर्भाव और तिरोभाव के असिद्ध हो जाने पर उसके कारण से कहीं पर किसी वस्तु की प्रतीति नहीं होने से वह प्रधान सर्वत्र दिखाई दे; परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिए प्रत्यक्ष विरोध तो वैसा ही बना ही रहेगा।

१२. ऐसा होने पर उपलब्धि की योग्यता मात्र मान लेने पर प्रधान की सत्ता नहीं मानी जा सकती है क्योंकि वह उपलब्ध नहीं है। प्रधान का अभाव होने पर उस प्रधान के निमित्त से होने वाले महत् आदि की सिद्धि भी नहीं होगी, इस तरह सभी तत्त्वों का अभाव होगा। फिर भी यदि विपरीत आग्रह के कारण महत् आदि से सृष्टि की प्रक्रिया कही जाती है तो यह पूछने योग्य है कि क्या यह महत् आदि प्रधान के कार्य हैं अथवा परिणाम हैं। प्रथम पक्ष में अर्थात् महत् आदि कार्य नहीं हो सकते हैं क्योंकि सत् महत् का कार्य भी सत् होगा क्योंकि सर्वथा सत् रूप महत् के कारण व्यर्थ होता है। जैसे सर्वथा सत् पुरुष से कोई कार्य नहीं होता है।

''यदि सर्वथा सत् कार्य है तो पुरुष के समान उस कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। और

नाप्यसतः;

"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥"

[सांख्यका० ९]

इति स्वसिद्धान्तविरोधात्। सर्वथाप्यसतः उत्पत्तिविरोधाच्च।

"यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत्।"

[आप्तमी० श्लो० ४२] इति वचनात्।

१३. द्वितीयपक्षे परिणामिनो बहुधानकस्य परिणामा महदादयोऽत्यन्तं भिन्ना वा स्युः अभिन्ना वा, तत्र परिणामानां तदभिन्नानां क्रमशो वृत्तिर्मा भूत् परिणामिनोऽक्रमत्वात्। ततो भिन्नानां व्यपदेशो न स्यात् सम्बन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात्।

१४. न तावत् प्रधानं परिणामानामुपकारकम्; तत्कृतोपकारान्तरस्य कार्यत्वे सदसत्पक्षोक्त-दोषानुषंगात्। परिणामत्वेतरभिन्नानां क्रमोत्पत्तिर्मा भूत्। भिन्नानां व्यपदेशो न स्यात् सम्बन्धासिद्धेरनुपकारात्। उपकारान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसंगात्। परिणामैः प्रधानस्योपकारे यावन्तो हि परिणामास्तावन्त-तस्तस्योपकारास्तत्कृतास्ततो यदि भिन्नाः, तदा तस्येति व्यपदेशोऽपि मा भूत्

असत् कारण से भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।" (आप्तमीमांसा /३९)

"कार्य के होने में असत् के कारण न होने से उपादान का ग्रहण होने से सभी के होने का अभाव होने से शक्त के अर्थात् सामर्थ्यवान् पदार्थ के उसकी शक्ति के अनुसार होने योग्य अर्थात् शक्य के करणता होने से और कारण के होने से कार्य सत्रूप होता है।" (सांख्यकारिका /९)।

इस प्रकार कहा हुआ होने से असत् से कार्य की उत्पत्ति मानने पर अपने सिद्धान्त से ही विरोध आता है तथा सर्वथा असत् से भी उत्पत्ति का विरोध आता है।

क्योंकि कहा भी है–यदि कार्य सर्वथा असत् है तो वह आकाशपुष्प के समान उत्पन्न नहीं हो सकता है।" (आप्तमीमांसा / ४२)।

१३. दूसरा पक्ष मानने पर प्रधान परिणामी के महत् आदि परिणाम उस प्रधान से अत्यन्त भिन्न हैं अथवा अत्यन्त अभिन्न हैं। उसमें परिणामों को अत्यन्त अभिन्न मानने पर उनकी क्रम से वृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि परिणामी का अक्रम (युगपत्) स्वभाव है। अर्थात् अक्रम परिणामी से क्रमवर्ती परिणामों की प्राप्ति नहीं होती है। इसी तरह भिन्न परिणामों का कथन भी नहीं हो सकता है क्योंकि सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होने से प्रधान महत् का उपकारक नहीं हो सकता है।

१४. तथा प्रधान परिणामों का उपकारक नहीं है क्योंकि प्रधान के द्वारा किये हुए अन्य उपकार का कार्यत्व मानने पर सत् और असत् पक्ष में कहे दोषों की आपत्ति आएगी। परिणामत्व और अपरिणामत्व स्वरूप परिणामी जो भिन्न है उनकी क्रम से उत्पत्ति नहीं होगी। भिन्न होने से उनका कोई व्यपदेश (नाम) नहीं होगा क्योंकि सम्बन्ध के सिद्ध नहीं होने से परिणाम और परिणामी का

सम्बन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात्। तद्वतस्तैरुपकारान्तरेऽपि स एव पर्यनुयोगः इत्यनवस्था। ततस्ते यद्यभिन्नास्तदा तावद्धा प्रधानं भिद्येत। ते वा प्रधानैकरूपतां प्रतिपद्येरन्निति प्रधानस्योपकाराणां चावस्थानासम्भवः।

१५. अथ न भिन्नो नाप्यभिन्नः परिणामः केवलं महदादिरूपेण प्रधानं परिणमते दण्डकुण्डलाद्याकारैः सर्पवदिति चेत्; तदेतत् स्वेष्टनित्यैकान्तबाधकम्; पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थिति-लक्षणपरिणामाभ्युपगमे नित्यानित्यात्मकत्वस्यावश्यम्भावात्।

१६.तदेवमनेकबाधकोपनिपातात् प्रधानादिचतुर्विंशतितत्त्वानि न व्यवतिष्ठन्ते। तदव्यवस्थितौ भोग्याभावे पुंसो भोक्तृत्वाभावादभावः स्यात्तस्य तल्लक्षणत्वात्। ततः प्रकृतिपुरुषतत्त्वयोरवस्थानाभावात् सांख्याभिमतं सर्वं तत्त्वं पुनरपि शून्यं जायत इति तत्कथं प्रत्यक्षसिद्धं स्यात्; स्यात्, उर्वीपर्वततर्वादिपदार्थानां ब्रह्ममयत्ववत् प्रधानमयत्वस्यापि प्रत्यक्षेणानुपलक्षणात् सिद्धं सांख्यशासनं दृष्टविरुद्धम्।

१७. तथा तदिष्टविरुद्धं च। कापिलाभिमतस्य कूटस्थनित्यपुरुषस्य कथंचित्तदनित्यत्व-साधकानु-

---

उपकारकपना नहीं हो सकता है तथा किसी अन्य उपकार की कल्पना में अनवस्था प्रसंग आता है। परिणामों के द्वारा प्रधान का उपकार मानने पर जितने परिणाम होते हैं, उतने ही उसके उपकारक भी माने जायें। परिणामों के द्वारा किए हुए उपकार यदि परिणामों से भिन्न हैं तो ये उपकार उसी परिणाम के हैं। इस प्रकार का व्यपदेश (कथन) भी नहीं बनेगा, क्योंकि जब सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होगी, तो उपकारकपना कैसे होगा? भिन्न सम्बन्ध से परिणामों के द्वारा उपकारान्तर मानने पर भी वही प्रश्न होगा। इस तरह अनवस्था दोष आता है। उसी तरह वे परिणाम, परिणामी यदि अभिन्न है तो उतने समय तक प्रधान परिणामों से भिन्न हो जायेगा और वे महत् आदि प्रधान के साथ एक रूपता को प्राप्त होंगे तो प्रधान का तथा उसके उपकारों का अवस्थान ही असम्भव है, यह सिद्ध होता है।

१५. **शंका—**परिणाम न ही भिन्न है और न ही अभिन्न हैं केवल प्रधान महत् आदि रूप से परिणमन करता है। जैसे कि दण्ड, कुण्डल आदि आकारों से सर्प का परिणमन होता है ?

समाधान—ऐसा मानना भी अपनी इष्ट, नित्य एकान्त प्रतिज्ञा में बाधक है क्योंकि पूर्व आकार का परिहार तथा अगले आकार की प्राप्ति और स्थिति लक्षण वाले परिणाम को स्वीकारने पर पदार्थ के नित्यात्मक और अनित्यात्मक स्वभाव अवश्य सिद्ध होता है।

१६. इस प्रकार अनेक बाधाओं के प्राप्त होने से प्रधान आदि चौबीस तत्त्व सिद्ध नहीं होते हैं। तथा उनकी सिद्धि नहीं होने पर भोग्य प्रकृति के अभाव में पुरुष के भोक्तृत्व का अभाव होने से पुरुष का अभाव हो जाये क्योंकि पुरुष को भोक्ता लक्षण वाला माना गया है। इस प्रकार प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्वों के अवस्थान का अभाव होने से सांख्य के द्वारा मान्य सभी तत्त्व पुनः पुनः शून्य ही सिद्ध होते हैं, वह कैसे प्रत्यक्ष से सिद्ध होवे ? यदि होवे तो पृथ्वी, पर्वत, तरु आदि पदार्थों के ब्रह्ममयपना होने के समान प्रधानमय प्रकृति की भी प्रत्यक्ष से उपलब्धि नहीं होने से सांख्यशासन दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष विरुद्ध ही सिद्ध होता है।

१७. उसी तरह यह इष्ट विरुद्ध भी है क्योंकि कापिलों को मान्य कूटस्थ नित्य पुरुष के

मानेन विरुद्धत्वात्। तच्चेदम्–विवादापन्नः पुरुषः स्यादनित्यः, अनित्यभोगाभिन्नत्वात्। यदित्थं तदित्थं दृष्टम्; यथा भोगस्वरूपमिति। नासिद्धं भोगस्यानित्यत्वम्, ''अनित्यो भोगः उत्पत्तिमत्त्वात्, ज्ञानवत्'' इत्यनु–मानात्तत्सिद्धेः।

१८. कथमुत्पत्तिमान् भोग इति चेत्, परापेक्षत्वात्तद्वदेव परापेक्षोऽसौ बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वात्। ''बुद्ध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते'' इति वचनात्। भोगस्य बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वे पुंसः सर्वत्र सर्वदा सर्वभोगप्रसंगात्। भोग्यसंनिधिसव्यपेक्षतया कादाचित्कत्वाच्चानित्यः सिद्धो भोगः। तस्य च पुरुषाद् भेदे तेन तस्य गगनादेरिव पुरुषान्तरस्यैव वा भोक्तृत्वानुपपत्तेः। ततो भोगस्याभेदे तद्रूपतया पुरुषस्य कथंचिदनित्यत्वं सिद्ध्यतीति सम्यगिदं साधनमात्मानित्यत्वं साधयति। ततः सूक्तम्–सांख्यमतमिष्टविरुद्धमिति।

१९. तथा चतुर्विधवर्णाश्रमतत्तद्विधेयविविधाचारपुण्य–पाप–परलोक–बन्ध–मोक्ष–तत्कारण–तत्फल –बुद्ध–मुक्तादिस्वरूप–प्रतिपादकः सांख्यागमो न प्रमाणं दृष्टेष्टविरुद्धागमाभिन्नस्य तस्य परोक्ष–तत्कारणेषु प्रामाण्यसंभावनानुपपत्तेरिति न तेषां धर्मानुष्ठानं प्रतिष्ठामियर्ति। किमत्र बहुनोक्तेन यत् किंचित्

कथंचित् अनित्यत्व के साधक अनुमान से विरुद्ध पड़ता है। वह इस प्रकार है–विवाद ग्रस्त पुरुष कथंचित् अनित्य है क्योंकि अनित्य भोग से पुरुष का अभिन्नपना है। जो इस प्रकार है, वह इस प्रकार देखा गया है जैसे कि भोग का स्वरूप।

वह असिद्ध नहीं है क्योंकि भोग का अनित्यपना है।''भोग अनित्य है क्योंकि भोग उत्पन्न होने के स्वभाव वाले हैं, जैसे ज्ञान उत्पन्न होता है। इस अनुमान से पुरुष के अनित्यपन की सिद्धि होती है।

१८. **शंका**–भोग उत्पत्ति स्वभावा वाला कैसे है ?

समाधान–पर की अपेक्षा वाला होने से। उसी की तरह यह पुरुष भी परापेक्षी है क्योंकि पुरुष को बुद्धि के अध्यवसाय की अपेक्षा रहती है। कहा भी है–''पुरुष बुद्धि के द्वारा जाना हुआ अर्थ जानता है।'' भोग को बुद्धि के अध्यवसाय की अपेक्षा होने पर पुरुष को सर्वत्र हमेशा समस्त भोगों की प्राप्ति का प्रसंग आ जायेगा। भोग्य पदार्थ की संनिधि की अपेक्षा से कादाचित्क होने से भोग अनित्य सिद्ध होते हैं क्योंकि उस भोग का पुरुष से भेद होने पर भोग के द्वारा पुरुष को आकाश आदि के समान अथवा अन्य पुरुष के समान भोक्तृत्व की उपपत्ति या सिद्धि नहीं होती है। पुरुष से भोग का अभेद होने पर उसी रूप होने से पुरुष के कथंचित् अनित्यत्व की सिद्धि होती है। इस तरह यह साधन अच्छी तरह आत्मा के अनित्यत्व को साधता है। इसलिए ठीक ही कहा है कि सांख्यमत इष्ट विरुद्ध है।

१९. तथा चार प्रकार का वर्णाश्रम, उनके लिए विधेय अनेक प्रकार के आचरण, पुण्य–पाप, परलोक, बन्ध, मोक्ष और उनके कारण, उनका फल, बद्ध, मुक्त आदि के स्वरूप का प्रतिपादक सांख्य आगम प्रमाण नहीं है क्योंकि दृष्ट–इष्ट प्रमाण से विरुद्ध आगम से एकमेक उस शासन का परोक्ष और उसके कारणों में प्रामाणिकता की संभावना नहीं होने से उनका धर्मानुष्ठान प्रतिष्ठा को

सेश्वरनिरीश्वर-सांख्यैरसंख्यावद्भिराख्यायते तत्सर्वं मृषैव, तदभिमतसकल-तत्त्वानामाविर्नावाद्यपाकरण-द्वारेण शून्यत्वस्यापादितत्वादित्यलं प्रसंगेन, दृष्टेष्टविरुद्धत्वात् सांख्यशासनस्यासत्यत्वसिद्धेः।

दृष्टेष्टेषु दृष्टेष्टविरोधात् सांख्यसंमतः।
परोक्षेषु तदेकत्वादागमो न प्रमाणताम्॥
आविर्भावच्युतौ सर्वच्युतेः सांख्यवचोऽखिलम्।
भवेत् प्रलापमात्रत्वात् नावधेयं विपश्चिताम्॥
न सांख्यशासनं सत्यं दृष्टदृष्टेष्टबाधतः।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्येति निश्चितम्॥

[इति सांख्यशासन-परीक्षा]

प्राप्त नहीं होता है। अधिक कहने से क्या ? जो कुछ असंख्यावान सेश्वर, निरीश्वर सांख्यों के द्वारा कहा गया है वह सब झूठ ही है। उनके द्वारा मान्य समस्त तत्त्वों का आविर्भाव आदि से निराकरण हो जाने से शून्यपने की प्राप्ति होती है, इसलिए इतना ही पर्याप्त है, क्योंकि दृष्ट-इष्ट प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण सांख्य शासन की असत्यता सिद्ध हो जाती है।

''दृष्ट-इष्ट प्रमाण से साधने योग्य पदार्थों में दृष्ट-इष्ट प्रमाण से सांख्य मत विरोध को प्राप्त है। परोक्षभूत पदार्थों में उन्हीं दोषों का एकत्वपना रहने से वह आगम भी प्रमाणता को प्राप्त नहीं है।

आविर्भाव की च्युति अर्थात् अभाव मानने पर सर्व तत्त्वों की च्युति हो जाने से सांख्य के समस्त वचन खण्डित हो जाते हैं। प्रलापमात्र होने से विद्वानों के द्वारा सांख्यवचन अवधारण करने योग्य नहीं है। यह सांख्यों का शासन दृष्ट-इष्ट बाधा के कारण सत्य नहीं देखा गया। इससे स्याद्वादियों को कुछ बाधा नहीं आयी, यह भी निश्चित हुआ है।''

[इस प्रकार सांख्य शासन परीक्षा पूर्ण हुई]

८.
वैशेषिकशासन-परीक्षा

[पूर्वपक्षः]

१. अथ वैशेषिकमतमपि दृष्टेष्टविरुद्धम्। तावदिदं हि तेषामाकूतम्–बुद्धिसुखदुःखेच्छा-द्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तावात्मनः स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः, अन्यथा आत्मनोऽत्यन्तविशुद्ध्यभावादिति। ''द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्यतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः।'' [प्रश॰ भा॰ पृ॰६] शैव-पाशुपतादिदीक्षाग्रहण-जटाधारण-त्रिकालभस्मोद्-धूलनादि-तपोऽनुष्ठानविशेषश्च।

२.''तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्म-मनांसि सामान्यविशेषसंज्ञोक्तानि नवैव। तद्व्यतिरेकेण संज्ञान्तरानभिधानात्।'' ''गुणाः रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेषप्रयत्नाश्च कण्ठोक्ताः सप्तदश, चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कारादृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिगुणाः।'' [प्रश॰ भा॰ पृ॰ १०] ''उत्क्षेपणाप-

---

८. वैशेषिक-शासन-परीक्षा
[पूर्वपक्ष]

प्रतिज्ञा–वैशेषिक मत भी दृष्ट-इष्ट प्रमाण से विरुद्ध है। उन वैशेषिकों की मान्यता है–बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नौ आत्मा के विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद होने पर आत्मा का अपनी आत्मा में ही ठहरना मोक्ष है। अन्य प्रकार से आत्मा की अत्यन्त विशुद्धि का अभाव है। कहा है–''द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय सहित पदार्थों का साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा तत्त्वज्ञान होना निःश्रेयस (मोक्ष) का हेतु है। [प्र॰ श॰ भा॰ पृ॰ ६]

इसके अतिरिक्त शैव, पाशुपत आदि की दीक्षा-ग्रहण, जटाधारण, त्रिकाल भस्म लगाना आदि तप का अनुष्ठान विशेष भी मोक्ष का कारण है।

२. उनमें सामान्य, विशेष संज्ञा से कहे जाने वाले पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन नौ ही द्रव्य हैं। इन द्रव्यों के अलावा अन्य संज्ञा नहीं कही गई हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न यह कण्ठोक्त सत्रह और च शब्द के समुच्चय से गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अद्रष्ट (धर्म और अधर्म) तथा शब्द ये सात मिलकर चौबीस गुण होते हैं। [प्रश. भा. पृ॰ १०] उत्क्षेपण,

क्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानीति पञ्चैव कर्माणि। गमनग्रहणाद्भ्रमणरेचनस्पन्दनोर्ध्वज्वलन-तिर्यग्पतनन-मनोन्नमनादयो गमनविशेषा न जात्यन्तराणि।'' [प्रश० भा०, पृ० ११] ''सामान्यं द्विविधम्, परमपरं चानुवृत्तिप्रत्ययकारणम्।''

३. ''तत्र परं सत्ता महाविषयत्वात्, सा चानुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव। द्रव्यत्वाद्यपरम् अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात्सामान्यं सद्विशेषाख्यामपि लभते। नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः। ते खल्वत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वात् विशेषा एव। अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः।''

४. ''एवं धर्मैर्विना धर्मिणामुद्देशः कृतः। षण्णामपि पदार्थानां साधर्म्यमस्तित्वमभिधेयत्वं ज्ञेयत्वम्। आश्रितत्त्वं चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः। द्रव्यादीनां पञ्चानामपि समवायित्वमनेकत्वं च।'' ''गुणादीनां पञ्चानामपि निगुर्णत्व-निष्क्रियत्वे।'' [प्रश० भा०, पृ० ११-१६]

अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन यह पाँच ही कर्म हैं। गमन का ग्रहण करने से भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तिर्यग्पतन, नमन, उन्नमन आदि गमन विशेष, जात्यन्तर नहीं है अर्थात् गमन में ही अन्तर्भूत होते हैं। सामान्य दो प्रकार होता है, जो पर और अपर के भेद से अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण है।

३. उनमें महाविषय वाली होने से पर को सत्ता कहते हैं। वह सत्ता अनुवृत्ति का हेतु होने से सामान्य ही है। द्रव्यत्व आदि अपर है क्योंकि अल्पविषय वाले हैं और वह सामान्य व्यावृत्ति (भिन्नता) का भी हेतु होने से सत् विशेष नाम को भी प्राप्त करता है। नित्य द्रव्य में रहने वाले विशेष हैं। वह विशेष अत्यन्त व्यावृत्ति (भिन्नता) का ज्ञान कराने में कारण होते हैं इसलिए विशेष ही हैं।

विशेषार्थ—ये विशेष विशेष रूप ही हैं। दो पदार्थों में तुल्य आकृति, गुण, क्रिया आदि को देखकर उनमें से अन्य पदार्थों को अलग करके एक पदार्थ को जानना विशेष है। जैसे गाय और घोड़े आदि में तुल्य आकृति, गुण, क्रिया, अवयवों की वृत्ति और संयोग देखकर, यह गाय सफेद है, शीघ्रगामी है, मोटी है आदि रूप से जो व्यावृत्ति (भिन्न ज्ञान) होता है वह विशेष के कारण होता है।

अयुत सिद्ध तथा आधार आधेयभूत पदार्थों का जो सम्बन्ध यहाँ इह प्रत्यय (जैसे इन तन्तुओं में पट है) रूप कारण है, वह समवाय है।

एक दूसरे को छोड़कर भिन्न आश्रयों में न रहने वाले गुण-गुणी आदि अयुतसिद्धों के ''इन तन्तुओं में पट है'' इत्यादि ज्ञान का असाधारण कारण समवाय है।

४. इस प्रकार धर्म के बिना धर्मी पदार्थों का उद्देश किया है। छहों ही पदार्थों का साधर्म्य भाव, अस्तित्व भाव, अभिधेयभाव, ज्ञेयपना और आश्रितत्त्व नित्य द्रव्यों से अन्यत्र में होता। पाँचों ही द्रव्य आदिकों का समवायित्व और अनेकत्व है। पाँचों ही गुण आदि का निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व है। [प्रश० भा० पृ० ११-१६]

इत्याद्यनेकविधं साधर्म्यं वैधर्म्यं चेति तत्त्वज्ञानं मोक्षहेतुः। तद्यथा, ''दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः।'' [न्यायसू० १/१/२]

५. तत्र तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानं निवर्तते; मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ तज्जन्यरागद्वेषनिवृत्तिः; तद्दोषनिवृत्तौ तज्जन्यकायवाङ्मनोव्यापार-रूपप्रवृत्तिनिवृत्तिः; तत्प्रवृत्तिनिवृत्तौ तज्जन्यपुण्यपाप बन्धलक्षणजन्म-निवृत्तिरित्यागामिकर्मबन्ध-निवृत्तिस्तत्त्वज्ञानादेव भवति। प्रागुपार्जिताशेषकर्मपरिक्षयस्तु भोगादेव नान्यथा। तथा चोक्तम्-

''नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥''

इति।

६. तत्रापि-

''कुर्वन्नात्मस्वरूपज्ञः भोगात्कर्मपरिक्षयम्।
युगकोटिसहस्राणि कृत्वा तेन विमुच्यते॥ ''

इत्येकः पक्षः।

''आत्मनो वै शरीराणि बहूनि मनुजेश्वर।
प्राप्य योगबलं कुर्यात् तैश्च सर्वां महीं वरेत्॥''
भुञ्जीत विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यस्तेजोगणानिव॥''

इति

इत्यादि अनेक प्रकार का साधर्म्य और वैधर्म्य सम्बन्धी तत्त्वज्ञान मोक्ष का हेतु है। वह इस प्रकार है-दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञानों का उत्तरोत्तर नाश होने पर तदनन्तर अभाव हो जाने से मोक्ष होता है। [न्याय सू० १/१/२]

५. उसमें तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान दूर होता है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उससे उत्पन्न होने वाले राग, द्वेष की निवृत्ति हो जाती है। रागद्वेषरूप दोष की निवृत्ति हो जाने पर तज्जन्य काय, वचन और मन के व्यापाररूप प्रवृत्ति की निवृत्ति हो जाती है। उस प्रवृत्ति की निवृत्ति हो जाने पर उससे उत्पन्न होने वाले पुण्य, पाप बन्ध के लक्षण वाले जन्म की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार आगामी कर्मबन्ध की निवृत्ति तत्त्वज्ञान से ही होती है। पहले अर्जित समस्त कर्म का नाश भोगने से ही होता है अन्य प्रकार से नहीं। कहा भी है-

''सैकड़ों, करोड़ों कल्पकाल के बीत जाने पर भी बिना भोगे हुए कर्म का नाश नहीं होता है। किया हुआ शुभ, अशुभ कर्म अवश्य भोगना पड़ता है।''

६. उसमें भी-''आत्मस्वरूप को जानने वाले को कर्म का क्षय भोगने से ही होता है। करोड़ हजार युगों के बीत जाने पर वह कर्म से छूट जाता है।''

इस प्रकार एक पक्ष है-''आत्मा के बहुत से शरीर हैं। मनुजेश्वर योगबल को प्राप्त करके उन

एकस्मिन्नेव भवे बहुभिः शरीरैः प्रागुपार्जिताशेषफलभोग इत्यपरः पक्षः। ततश्च भोगात् प्रागुपार्जिताशेषकर्मपरिक्षये एकविंशतिभेदभिन्नदुःखनिवृत्तिरिति।

७. तानि दुःखानि कानीति चेत्,

''संसर्गः सुखदुःखे च तपा[था]र्थेन्द्रियबुद्धयः।
प्रत्येकं षड्विधाश्चेति दुःखसंख्यैकविंशतिः॥''

इति।

सकलपुण्यपापपरिक्षयात् तत्पूर्वकबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नसंस्काराणामपि परिक्षये आत्मनः कैवल्यं मोक्ष इति।

[उत्तरपक्षः]

८. तदेतदौलूक्यशासनं तावत् दृष्टविरुद्धम्। तदभिमतस्यावयवावयविनोर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्जाति-व्यक्त्योर्भेदैकान्तस्य तदभेदग्राहिणा प्रत्यक्षेण विरुद्धत्वात्।

शरीरों के द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी का वरण कर लेता है। कितने ही लोग विषयों को भोगते हैं, कितने ही लोगों के द्वारा उग्र तपश्चरण किया जाता है और कितने ही लोग उन शरीरों का उसी तरह नाश कर देते हैं, जैसे सूर्य अन्य प्रकाश देने वाले तारा आदि समूहों का संहार कर देता है।''

एक ही भव में बहुत शरीरों के द्वारा पहले उपार्जित समस्त भोगों का फल छूटता है, यह दूसरा पक्ष है। भोग लेने से पहले अर्जित समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर इक्कीस प्रकार के दुःखों से निवृत्ति हो जाती है।

७. वे दुःख कौन से हैं? यह कहते हैं-''संसर्ग, सुख और दुःख ये प्रत्येक छह-छह प्रकार के होने से अठारह भेद तथा अर्थ, इन्द्रिय और बुद्धि को मिलाने से दुःख के इक्कीस भेद हो जाते हैं।''

समस्त पुण्य, पाप का क्षय हो जाने से उससे होने वाले बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और संस्कारों का भी क्षय हो जाता है। जिससे आत्मा को कैवल्य की प्राप्ति होती है, यही मोक्ष है।

[उत्तरपक्ष]

८. यह औलूक्य (वैशेषिकपना) शासन दृष्टविरुद्ध है। उनके द्वारा मान्य अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान, जाति-व्यक्ति में भेद एकान्त है, जो कि अभेद ग्राही प्रत्यक्ष से विरोध को प्राप्त है।

विशेषार्थ-''वैशेषिकों ने माना है कि-समवाय से पदार्थों में सम्बन्ध होता है। इसलिए इसे समवाय कहते हैं। यह समवाय अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, नित्यद्रव्य और विशेष में रहता है। समवाय सम्बन्ध से सर्वथा भिन्न धर्म और धर्मी में धर्म-धर्मी के अभेदपने का व्यवहार होता है।''

अयुतसिद्ध पदार्थों में जो सम्बन्ध होता है, उसका नाम समवाय है। अविनाश अवस्था में जिन

९. न ह्यवयव्यादिरवयवादिभ्यः सर्वथा भिन्न एव प्रत्यक्षे प्रतिभासते, अपि तु कथंचिदभिन्न एव। तन्तुभ्यः तदातानवितानावस्थाविशेषरूपस्य पटस्य कर्पट्यादेश्चित्रज्ञाने नीलादिनिर्भासवत्; तत्रैकलोली-भावमुपगतानां रूपादीनां गच्छतः, पुरुषाद् बाल्यादिवत्, स्थित्यादिवद्वा तदवस्था विशेषभूतक्रियायाः सामान्यवतोऽर्थाद् वैसादृश्यवत्तद्धर्मभूतसादृश्यलक्षणसामान्यस्य अनर्थान्तरतया सकललोकसाक्षिक-मध्यक्षेणाऽध्यवसायात्।

दो पदार्थों में से एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के आश्रित ही रहता है, वे दोनों अयुतसिद्ध कहलाते हैं। अवयव और अवयवी, जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान् तथा नित्य द्रव्य और विशेष इन पाँच युगलों में अयुतसिद्धि रहती है। इसलिए इन पाँच युगलों में जो सम्बन्ध है वह समवाय सम्बन्ध है।

जैन—यह बात प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। इसी का स्पष्टीकरण-

९. अवयवी आदि अवयव आदिकों से सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष में नहीं दिखाई देते है अपितु कथंचित् अभिन्न ही है। तन्तुओं से उनके तान-वितान अवस्था विशेष रूप पट का अभेद ज्ञान, कर्पटी आदि (कपड़े आदि के) चित्रज्ञान में नील आदि आभास की तरह होता है, उसी चित्र में एकलोली भाव को प्राप्त रूप आदि को जानते हुए किसी के लिए पुरुष से बाल्य आदि अवस्था की तरह अथवा स्थिति आदि की तरह उन अवस्था में विशेषभूत क्रिया का सामान्यवान अर्थ से विसदृशता की तरह उस धर्मभूत सादृश्य लक्षण वाले सामान्य की अनर्थान्तरपने से अर्थात् एक ही पदार्थपने से समस्त लोक को दिखाई देता है, जो कि प्रत्यक्ष से अभिन्न ही जाना जाता है।

विशेषार्थ—ये वैशेषिक मत वाले अभेदरूप पदार्थ में भी भेद एकान्त से मानते हैं। यहाँ आचार्यदेव ने प्रत्यक्षविरुद्ध उसी तथ्य को प्रत्येक का उदाहरण देकर दर्शाया है। अवयव-अवयवी में भेद एकान्त से नहीं है, तभी तो अनेक तन्तुओं से मिलकर जो पट (कपड़ा) बनता है, उसकी लम्बाई, चौड़ाई अवस्था विशेष होती है। उस कपड़े को तन्तुओं से भिन्न मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। उसी तरह गुण-गुणी में एकान्त से भेद नहीं है। चित्रज्ञान में नील आदि रंगों से बने हुए चित्र में वह रंग उसी रूप (चित्र) के साथ एकमेक होते हैं। उस आकृति को नील रंग आदि से भिन्न कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध बात है। यहाँ नीला रंग गुण है तथा उससे बना रूप (चित्र) गुणी है। इसी तरह क्रिया और क्रिया करनेवाला इन दोनों में एकान्ततः भेद नहीं है। जैसे पुरुष से बाल्य, यौवन, वृद्ध आदि अवस्था बनी हैं जो उस क्रियावान् पुरुष (आत्मा) की ही विशेष क्रिया है अथवा उस पुरुष का चलना, फिर बैठ जाना, लेट जाना आदि क्रिया उस पुरुष से भिन्न नहीं है किन्तु वैशेषिक इन क्रिया और क्रियावान् को भिन्न मानता है जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसी तरह जाति (सामान्य) और व्यक्ति (विशेष) में भी भिन्नता नहीं है। सामान्यवान पदार्थ से विलक्षणता को धारण करने वाला भी सामान्य किसी दूसरे पदार्थ में नहीं चला जाता है, किन्तु उसी पदार्थ में अभिन्न रूप से होता है, जैसे गो जाति की अनेक

१०. ननु समावायात्तेभ्योऽवयव्यादिरर्थान्तरमिव प्रतिभासत इति चेत्; न, अवयव्यादिप्रत्यक्षस्य सर्वत्र भ्रान्तत्वप्रसंगात्, तिमिरांशु-भ्रमणनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्य धावध्वादिदर्शनवदसदाकार-विशिष्टार्थ-ग्रहणात्। तथा चाव्यभिचारित्वं प्रत्यक्षलक्षणमसंभवि स्यात्।

११. न चैते अवयवादयः, इमे अवयव्यादयः, समवायश्च तेषामयमिति प्रत्यक्षबुद्धौ विस्रसा भिन्ना सकृदपि प्रतीयन्ते प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्तीति तेऽमी अमूल्यदानक्रयिणः; प्रत्यक्ष-बुद्धावात्मानर्पणेन प्रत्यक्षतास्वीकरणात्।

१२. न च परोपवर्णितस्वरूपः समवाय एव व्यवतिष्ठते। यतो भिन्नानामभेदप्रतिभास इष्यते। तथा हि- नित्यव्यापकैकरूपतया परैरभिमतः स समवायः समवाय्याश्रितोऽनाश्रितो वा, यदाश्रितः तदा परमार्थतः, उपचाराद्वा, तत्र न परमार्थतः समवायः समवाय्याश्रितः तयोः सम्बन्धाभावात्। न हि तावत्तयोः समवायः सम्बन्धः; समवायस्यैकत्वात्। समवायस्य समवायान्तरेण वृत्तौ तस्यापि तदन्तरेणैव वृत्तिरित्यनवस्थोप-

---

गायों में काली गाय विशेष का ज्ञान गाय सामान्य से भिन्न नहीं है। वैशेषिक इसे भिन्न कहता है। इसीलिए यह भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

१०. **वैशेषिक**—उन अवयव आदि से अवयवी आदि समवाय से अभिन्न रूप से दिखाई देता है?

जैन—नहीं, ऐसा कहने पर अवयवी आदि जो प्रत्यक्ष में दिखाई दे रहे हैं, उनके प्रत्यक्ष को सर्वत्र मानने में भ्रान्तपने का प्रसंग आ जायेगा। अन्धकार में तीव्र गति से घूमने से और नौका यान में संक्षोभ से जिसे विभ्रम उत्पन्न हुआ है, उसे वृक्ष आदि चलते हुए दिखाई देते हैं उसी की तरह आपको भी असत् आकार से विशिष्ट अर्थ का ही ग्रहण होता है। जिससे प्रत्यक्ष प्रमाण से आपका लक्षण निर्दोष होना असंभव है।

११. और न ही प्रत्यक्ष बुद्धि में स्वभाव से एक बार भी ये अवयवी, अवयव और समवाय भिन्न दिखाई देते हैं कि ये अवयव आदि हैं, ये अवयवी आदि हैं और उनका यह समवाय है। फिर भी आप लोग प्रत्यक्षता को स्वीकार करने की इच्छा करते हैं तो मानों वे बिना मूल्य के सब खरीदने वाले हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष बुद्धि में आत्मा के अर्पण के बिना प्रत्यक्षता स्वीकारते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष दिखने वाली वस्तु में भी अपनी बुद्धि को समर्पित किए बिना प्रत्यक्षता को स्वीकारते हैं।

१२. आप वैशेषिकों के द्वारा कहा गया समवाय का स्वरूपसिद्ध नहीं होता है, जिससे भिन्न-भिन्न पदार्थों का अभिन्न प्रतिभास इष्ट माना जाता है। नित्य, व्यापक, एकरूपता से आपके द्वारा अभिमत वह समवाय (पदार्थ) समवायी के आश्रित है अथवा अनाश्रित है। यदि आश्रित है तो वह परमार्थ से है अथवा उपचार से। वहाँ वह समवाय समवायी के आश्रित परमार्थ से तो नहीं हो सकता है क्योंकि समवाय और समवायी में सम्बन्ध का अभाव है। और उन दोनों का समवाय सम्बन्ध भी नहीं है क्योंकि समवाय एकत्व रूप है। समवाय की अन्य समवाय से वृत्ति होने पर उसकी भी अन्य से वृत्ति होगी इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा। संयोग सम्बन्ध भी नहीं है क्योंकि संयोग गुणत्व

निपातात्। नापि संयोगः, तस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात्, द्रव्यत्वाच्च समवायस्य। नापि विशेषण-विशेष्यभावः; सम्बन्धान्तराभिसंबद्धार्थेष्वेवास्य प्रवृत्तिप्रतीतेः दण्डपुरुषादिवत्, अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषणं विशेष्यं च स्यात्। न च समवायसमवायिनां सम्बन्धान्तराभिसंबद्धत्वम्; संयोगसमवाययोरनभ्युपगमात् विशेषणविशेष्यभावान्तरेण संबद्धत्वे तस्यापि तदन्तरेण संबद्धेष्वेव प्रवृत्तिरित्यनवस्थानात्। नाप्यदृष्टम्, षोढा सम्बन्धवादित्वव्याघातात्। यदि चादृष्टेन समवायः संबद्धचेत्; तर्हि गुणगुण्यादयोऽप्यत एव संबद्धा भविष्यन्तीत्यलं समवायादिकल्पनयेति न सम्बन्धान्तरेण समवायस्य सम्बन्धः सिद्धयति।

१३. ननु न समवायस्य सम्बन्धान्तरेण सम्बन्धोऽस्माभिरिष्टः येनानवस्थादिदोषाः स्युः, अपि तु अग्नेरुष्णतावत् स्वत एवास्य सम्बन्धो युक्तः स्वत एव सम्बन्धरूपत्वात्, न संयोगादीनां तदभावात्। न ह्येकस्य स्वभावोऽन्यस्यापि, अन्यथा स्वतोऽग्नेरुष्णत्वदर्शनात् जलादीनामपि तत्स्यादिति चेत्; तदपि प्रलापमात्रम्; यतः प्रत्यक्षप्रसिद्धे पदार्थस्वभावे स्वभावैरुत्तरं वक्तुं युक्तम्।

रूप से द्रव्य के आश्रित है और समवाय को द्रव्यपना है। उन दोनों में विशेषण-विशेष्य भाव भी नहीं है क्योंकि यह भाव भिन्न-भिन्न सम्बन्ध से सम्बद्ध (लगे हुए) पदार्थों में ही देखा जाता है जैसे पुरुष के हाथ में दण्ड आदि अन्यथा सभी पदार्थ के सभी विशेषण और सभी विशेष्य हो जायेंगे। समवाय-समवायियों की अन्य सम्बन्ध से सम्बद्धता नहीं होती है। संयोग और समवाय इन दोनों की सिद्धि नहीं होने से विशेषण विशेष्य रूप अन्य भाव से सम्बद्धपना माने तो उस विशेषण-विशेष्य भाव की भी किसी अन्य विशेषण-विशेष्य भाव से संबद्ध पदार्थों में वृत्ति होगी जिससे अनवस्था होगी। यह अदृष्ट सम्बन्ध भी नहीं है क्योंकि छह प्रकार का सम्बन्ध मानने वाले का व्याघात हो जायेगा।

विशेष—संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेषण-विशेष्य भाव यह छह प्रकार का सम्बन्ध वैशेषिक मानते हैं।

यदि अदृष्ट से समवाय सम्बन्ध को प्राप्त हो जाए तो फिर गुण-गुणी आदि भी इसी अदृष्ट से सम्बद्ध हो जायेंगे, इस तरह समवाय आदि की कल्पना व्यर्थ है। इस तरह अन्य के सम्बन्ध से समवाय का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है।

१३. **शंका**—समवाय का सम्बन्धान्तर से सम्बन्ध हम लोगों को इष्ट नहीं है जिससे अनवस्था आदि दोष आयें अपितु अग्नि की उष्णता की तरह स्वतः ही समवाय का सम्बन्ध मानना युक्त है क्योंकि समवाय स्वतः सम्बन्ध स्वरूप से है क्योंकि संयोग आदि सम्बन्धों का स्वतः सम्बन्धरूपत्व का अभाव नहीं है और एक का स्वभाव अन्य का नहीं हो सकता है, अन्यथा स्वतः अग्नि की उष्णता का दर्शन होने से जल आदि की भी उष्णता हो जायेगी।

समाधान—वह भी प्रलाप मात्र कथन है। क्योंकि प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ के स्वभाव में स्वभाव के द्वारा ही उत्तर देना ठीक है।

कहा भी है-

''प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थे यदि पर्यनुयुज्यते।
स्वभावैरुत्तरं वाच्यं दृष्टे काऽनुपपन्नता॥''

इति वचनात्।

अन्यथा तथोत्तरेण सर्वस्य स्वेष्टसिद्धिप्रसंगात्।

१४. न च समवायस्य स्वतः सम्बन्धत्वं संयोगादीनां तु तस्मादित्यध्यक्षप्रसिद्धम्; तत्स्वरूप-स्याध्यक्षागोचरत्वप्रतिपादनात्। ''अत एवातीन्द्रियः सत्तादीनामिव प्रत्यक्षेषु वृत्त्यभावात्, स्वात्मगत-संवेदनाभावाच्च।'' [प्रश॰ भा॰ पृ० ६९७] इति प्रशस्तपाद-भाष्येऽभिधानात्। ''समवायः पदार्थान्तरेण संबद्ध्यमानो न स्वतः संबद्ध्यते संबद्ध्यमानत्वात् रूपादिवत्'' इत्यनुमानविरोधाच्च।

१५. यदि चाग्निः प्रदीपश्च मांसादीनामुष्णप्रकाशाशुचित्ववत् समवायः स्वपरयोः सम्बन्धहेतुः, तर्हि तद्दृष्टान्तावष्टम्भेनैव ज्ञानं स्वपरयोः प्रकाशहेतुः किं न स्यात्; तथा च ''ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात्'' इति विप्लवते।

१६. किं च, यथा अर्थानां सदात्मकस्य भावस्य नान्यः सत्तायोगोऽस्ति एवं द्रव्यादीनां वृत्त्यात्मकस्य

''प्रत्यक्ष से जिस पदार्थ की प्रतीति हो रही हो, उसमें भी यदि प्रश्न होवे तो यह स्वभाव है, यह उत्तर देना ही उचित है, क्योंकि दृष्ट (प्रत्यक्ष प्रमाण) में असिद्धि की क्या बात है?

अन्यथा उस प्रकार के उत्तर से सभी को अपनी इष्ट सिद्धि का प्रसंग आ जायेगा।

१४. और समवाय का सम्बन्ध स्वतः होता है। संयोग आदि का समवाय से सम्बन्धपना है, यह बात प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है क्योंकि समवाय का स्वरूप प्रत्यक्षगोचर नहीं है, ऐसा आपने कहा है। जैसे कि प्रशस्त पाद भाष्य में कहा है–''इसलिए समवाय अतीन्द्रिय है, सत्ता आदि की तरह, क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थों में समवाय की वृत्ति का अभाव है तथा इस समवाय के स्वात्मगत संवेदन का भी अभाव है।'' इस समवाय का अनुमान से भी विरोध आता है–''किसी अन्य पदार्थ से समवाय सम्बन्ध को प्राप्त होता हुआ स्वयं सम्बद्ध नहीं होता है क्योंकि वह संबद्ध्यमान (स्वयं बंधने योग्य है, न कि दूसरे को बाँधने वाला) है, जैसे रूप आदि होते है।'' अर्थात् घट, पट आदि पदार्थों के रूप किसी अन्य पदार्थ से सम्बद्ध नहीं होते हैं उसी तरह समवाय का सम्बन्ध अन्य पदार्थ से नहीं हो सकता है। इस प्रकार अनुमान से भी समवाय को मानने में विरोध आता है।

१५. यदि अग्नि और दीपक मांस आदिक के उष्ण होने या प्रकाशित होने में क्रमशः कारण हैं मांस आदिक में उष्ण और प्रकाश अशुचिपने की तरह स्व-पर दोनों के सम्बन्ध का हेतु समवाय है तो फिर उसी दृष्टान्त के बल से ही ज्ञान भी स्व-पर दोनों के प्रकाश का हेतु क्यों नहीं होगा? तथा इससे ही ज्ञान अन्य ज्ञान के द्वारा जानने योग्य है, क्योंकि वह प्रमेय है, यह सिद्धान्त भी नष्ट हो जायेगा।

१६. दूसरी बात यह है कि जैसे पदार्थों के सत् (अस्तित्वात्मक) भाव का अन्य कोई सत्ता के

समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति, तस्मात् स्वात्मवृत्तिरिति मन्वानः पदार्थानां संवेदनात्मकस्य ज्ञानस्य नान्यतः संवेदनम्, तस्मात् स्वतः संवेदनमिति किं न मन्येत्, भाववत्तादात्म्याविशेषात्। तदविशेषेऽपि सत्तादृष्टान्तेन समवायस्यैव स्वतो वृत्तिः स्यान्न पुनर्ज्ञानस्य स्वसंवेदनमिति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्। स्वतः सम्बन्ध इव स्वतः संवेदनेऽपि स्वात्मनि क्रियाविरोधाभावात्, अन्यथा तत्रापि तत्प्रसंगात्। तस्यैकस्यैव संघटनीय-संघटकत्वभावात्।

१७. यच्चोच्यते-समवायः सम्बन्धान्तरं नापेक्षते स्वतः सम्बन्धत्वात्, ये तु सम्बन्धान्तरमपेक्षन्ते न ते स्वतः सम्बन्धाः, यथा घटादयः, न चायं न स्वतः सम्बन्धः, तस्मात्सम्बन्धान्तरं नापेक्षत इति; तदपि मनोरथमात्रम्; संयोगेनानेकान्तात्। स हि स्वतः सम्बन्धः सम्बन्धान्तरं चापेक्षते। न हि स्वतोऽसम्बन्ध-स्वभावत्वे संयोगादेः परतस्तद्युक्तम्; अतिप्रसंगात्। ''समवायः पदार्थान्तरेण संश्लेषे सम्बन्धान्तरमपेक्षते, पदार्थान्तरत्वात्, यदित्थं [तदित्थं], यथा संयोगाः, तथा चायम्, तस्मात्तथैव, इत्यनुमानबाधितविषयत्वाच्च।

साथ योग नहीं होता है उसी प्रकार द्रव्य आदि के वृत्त्यात्मक समवाय की अन्य कोई दूसरी वृत्ति नहीं होती है। इसलिए स्वात्मवृत्ति है, इस प्रकार मानते हो तो पदार्थों के संवेदनात्मक ज्ञान का संवेदन अन्य से नहीं होता है। यह सिद्ध होता है इसलिए स्वतः संवेदन होता है, ऐसा ही क्यों नहीं मान लेते हो? क्योंकि भाववान आत्मा के साथ ज्ञान के तादात्म्य सम्बन्ध को मानने पर उसमें और समवाय में कोई विशेषता नहीं है।

तादात्म्य सम्बन्ध एवं समवाय में विशेषपना न होने पर सत्ता के दृष्टान्त से समवाय की ही स्वतःवृत्ति हो, न कि ज्ञान का स्वसंवेदनपना। इसलिए यह अपनी रुचि के अनुसार दर्शन का प्रदर्शन मात्र करना है। स्वतः समवाय सम्बन्ध के समान स्वतः स्व आत्मा में संवेदन में भी क्रिया के विरोध का अभाव है, अन्यथा समवाय में भी वही विरोध आयेगा क्योंकि उस एक समवाय वृत्ति की ही दूसरों से जोड़ने योग्य (संघटनीय) तथा जोड़ने वाला (संघटकत्व) भाव की प्राप्ति होती है।

१७. जो यह कहा जाता है कि-समवाय अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध स्वतः होता है। जो अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं वे पदार्थ स्वतः सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होते हैं जैसे घट आदि तथा यह समवाय ''न स्वतः सम्बन्ध'' वाला नहीं है इसलिए अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता है। यह कहना भी आपकी अपनी इच्छा मात्र है क्योंकि संयोग के साथ अनेकान्त की प्राप्ति होती है। वह संयोग स्वतः सम्बन्ध वाला अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा भी रखता है। स्वयं से सम्बन्ध स्वभाव से रहितपना होने पर संयोग आदि का दूसरे से सम्बन्ध हो जाए, यह तो ठीक नहीं है क्योंकि इससे अतिप्रसंग दोष आता है। ''समवाय पदार्थान्तर के साथ संश्लेष होने पर अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है क्योंकि उस समवाय के लिए वह अन्य पदार्थ है।'' जो इस प्रकार संश्लेष सम्बन्ध रखता है, वह उसी प्रकार अन्य से सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है, जैसे संयोग। उसी प्रकार समवाय संश्लेष सम्बन्ध रखने से सम्बन्धी की अपेक्षा रखता है, इसलिए वह वैसा ही है इस प्रकार अनुमान से यह समवाय सम्बन्धी विषय बाधित होता है।

१८. किं च, यथा समवायः स्वरूपापेक्षयाऽभेदात्तदव्यतिरिक्त घटनीय-घटकाकारापेक्षया भेदा-भेदाद्भेदात्मकः सिद्ध्यति, तथावयव्याद्यपेक्षयाऽभेदात्तदपृथग्भूतावयवापेक्षयाभेदात् सर्वं वस्तु भेदा-भेदात्मकं जात्यन्तरं सिद्ध्येत्, विरोधादिदूषणानां समवायदृष्टान्तेनापसारणात् इत्यर्हन्मतसिद्धिः तस्य तदिष्टत्वात्।

''**अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं तव।**'' [युक्त्यनु॰ श्लो॰ ७] इति वचनात्।

तन्मतसिद्धौ ''पराभिमतभेदैकान्तरूपं वस्तु खपुष्पवदसदेव स्यात्''।

''**स्वतन्त्रान्यतरत् खपुष्पम्**'' [युक्त्यनु॰ श्लो॰ ७] इति वचनात्।

१९. तदेवं स्वतः परतश्च समवायस्य समवायिषु वृत्तिर्न स्यात्, अवृत्तिमत्त्वात् समवायवृत्तेर्न परमार्थतः समवायः समवाय्याश्रितः परैस्तस्य स्वातन्त्र्याभ्युपगमाच्च। नाप्युपचारात्, उपचारनिमित्ताभावात्।

२०. ननु निमित्तमुपचारस्य समवायिषु सत्सु समवायज्ञानम्, समवायिशून्यदेशे समवायज्ञाना-संभवादिति चेत्; तदसत्; दिगादीनामप्येवमाश्रितत्वप्रसंगात्; मूर्तद्रव्येषु सत्सु उपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु दिग्लिङ्गस्य ''इदमतः पूर्वेण'' इत्यादि प्रत्ययस्य काललिङ्गस्य च परत्वापरत्वादिप्रत्ययस्य सद्भावात्

---

१८. और जैसे समवाय स्वरूप की अपेक्षा से अभेद होने के कारण समवाय से अभिन्न घटनीय-घटक आकार की अपेक्षा से भेद-अभेद सिद्ध होने से भेदात्मक सिद्ध होता है उसी तरह अवयवी आदि की अपेक्षा से अभेद होने के कारण उससे अभिन्न अवयवों की अपेक्षा से भेद होने के कारण समस्त वस्तु भेद-अभेद स्वरूप वाली जात्यन्तर सिद्ध होती है। विरोध आदि दोषों को समवाय के दृष्टान्त से दूर करा देने से तो अर्हन्मत की सिद्धि होती है जो हमें इष्ट है। कहा भी है–

''हे भगवन् आपका अर्थ तत्त्व अभेद-भेदात्मक है।''

उस अनेकान्त मत की सिद्धि होने पर वैशेषिकों से मान्य भेद एकान्त रूप वस्तु आकाशपुष्प के समान असत् ही होवे। कहा भी है–''आपके सिद्धान्त से भिन्न सभी मत आकाश पुष्प के समान हैं।''

१९. इस प्रकार स्वतः और परतः प्रमाण से भी समवाय की समवायी पदार्थों में वृत्ति सिद्ध नहीं होती है। समवायवृत्ति के अवृत्तिमत्व सिद्ध होने से परमार्थ से समवाय समवायियों पर आश्रित नहीं ठहरा फिर भी दूसरों के द्वारा समवायी पदार्थों के आश्रित माने गये उस समवाय की स्वतन्त्रता स्वीकारी नहीं गयी है। वह समवाय उपचार से भी नहीं है क्योंकि उपचार के निमित्तों का अभाव है।

(उपचार से भी समवाय के आश्रितत्व का खण्डन)

२०. यदि यह कहें कि समवायी पदार्थों के होने पर उपचार का निमित्त समवायज्ञान है, क्योंकि समवायों से शून्य स्थान में समवाय का ज्ञान असंभव है, आपका यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि दिशा आदि को भी समवाय के समान ही आश्रितपने का प्रसंग आयेगा। उपलब्ध होने वाले मूर्त द्रव्यों में ''यह इससे पूर्व में है'' इत्यादि दिशालिंग का तथा यह पहले है (ज्येष्ठ है) यह बाद में हैं (छोटा है) इस प्रकार काललिंग का ज्ञान बन जाता है क्योंकि दिशा आदि में भी मूर्त द्रव्य

मूर्तद्रव्याश्रितत्वोपचारप्रसंगात्। तथा च ''अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः'' [प्रश॰ भा॰, पृ॰ १६] इति वचनव्याघातः, नित्यद्रव्यस्यापि दिगादेरुपचारादाश्रितत्वसिद्धेः। ततो नोपचारादप्याश्रितत्वं समवायस्य।

२१. अथानाश्रितः समवायः इति मतम्, तदा न सम्बन्धः समवायः संबन्धिभ्यां भिन्नस्योभयाश्रितस्यैव संयोगवत् सम्बन्धत्वव्यवस्थितेः। तथा च प्रयोगाः–समवायो न सम्बन्धः सर्वथाऽनाश्रितत्वात्, यो यः सर्वथाऽनाश्रितः स स न सम्बन्धः, यथा दिगादिः, सर्वथाऽनाश्रितश्च समवायः, तस्मान्न सम्बन्ध इति। न चात्रासिद्धो हेतुः, समवायस्य परमार्थत उपचाराच्चाश्रितत्वस्य निराकृतत्वात्।

२२. स्यादाकूतम्–समवायस्य धर्मिणोऽप्रतिपत्तौ हेतोराश्रयासिद्धत्वम्, प्रतिपत्तौ धर्मिग्राहक-प्रमाणबाधितः पक्षो हेतुश्च कालात्ययापदिष्टः प्रसज्यते। समवायो हि यतः प्रमाणात् प्रतिपन्नस्तत एवायुतसिद्धसम्बन्धत्वं प्रतिपन्नम् अयुतसिद्धानामेव सम्बन्धस्य समवायव्यपदेशसिद्धेरिति, तदपि न

के आश्रितपने से उपचार का प्रसंग आता है। तथा ''नित्य द्रव्य के सिवाय छह पदार्थों का आश्रितपना है।'' इस प्रश॰ भा॰ के वचन का व्याघात होता है क्योंकि दिशा आदि नित्य द्रव्य भी उपचार से आश्रित सिद्ध होते हैं। इसलिए समवाय का आश्रितपना उपचार से भी नहीं है।

विशेषार्थ–यह समवाय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थों में रहता है। दिशा आदि में नहीं। इसी बात को लेकर इस प्रसंग में ऊहापोह की है। वैशेषिकों के मत में पृथ्वीत्व के सम्बन्ध से पृथ्वी का ज्ञान होता है। इसी पृथ्वीत्व के साथ पृथ्वी के सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। कहा भी है–''प्राप्त पदार्थों की प्राप्ति ही समवाय है'' इसी तथ्य को यहाँ ''उपलब्धि लक्षण प्राप्तेषु'' कहकर बताया है।

(समवाय को अनाश्रित मानने पर आने वाली बाधाएँ)

२१. समवाय अनाश्रित है, इस प्रकार माना है, तो दो सम्बन्धी पदार्थों के बीच में समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न दो आश्रित पदार्थों के ही संयोग सम्बन्ध के समान सम्बन्धपने की व्यवस्था होती है। अनुमान प्रयोग (तर्क) भी ऐसा ही होता है–समवाय सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा अनाश्रित है। जो जो सर्वथा अनाश्रित है, वह वह सम्बन्ध को प्राप्त नहीं है। जैसे दिशा आदि और समवाय सर्वथा अनाश्रित है इसलिए इसका सम्बन्ध नहीं बनता है। तथा यहाँ हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि समवाय का निराकरण परमार्थ से और उपचार से उसके आश्रितपने का निराकरण हो चुका है।

२२. **वैशेषिक–**धर्मी की अप्रतिपत्ति (नहीं जानने) में हेतु का आश्रय से असिद्धपना है। प्रतिपत्ति में पक्ष धर्मी के ग्राहक प्रमाण से बाधित है और हेतु कालात्ययापदिष्ट प्राप्त होता है। चूँकि समवाय जिस प्रमाण से जाना जाता है, उससे ही उसका अयुतसिद्ध सम्बन्धत्व ज्ञात हो जाता है। क्योंकि अयुत सिद्धों के ही सम्बन्ध की समवाय के नाम से सिद्धि होती है।

साधीयः; समवायग्राहिणा प्रमाणेनाश्रितस्यैव समवायस्य अविष्वग्भावलक्षणस्य प्रतिपत्तेः, तस्यानाश्रितत्वाभ्युपगमे च असम्बन्धत्वस्य प्रसंगेन साधनस्य साधनात्। साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ परस्य व्याप्याभ्युपगमे तन्नान्तरीयकस्य व्यापकाभ्युपगमस्य प्रतिपादनात्। न ह्यनाश्रितत्वमसम्बन्धत्वेन व्याप्तं दिगादिष्वसिद्धम्। नाप्यनैकान्तिकम्; अनाश्रितस्य कस्यचित् सम्बन्धत्वाप्रसिद्धेः विपक्षे वृत्त्यभावात्। तत एव न विरुद्धं नापि सत्प्रतिपक्षम्; तस्यानाश्रितस्यापि सम्बन्धत्वव्यवस्थापकानुमानाभावादिति न परेषां समवायसम्बन्धोऽस्ति, यतस्तद्वशादभिन्नानामप्यवयव्यादीनामभेदेन प्रतिपत्तिरुपपद्येत। ततस्ते भेदेनैव प्रतियेरन् न चैवमतः प्रत्यक्ष-विरोधो दुःशकः परिहर्तुं परेषाम्।

२३. किं च, प्रतिपादितप्रकारेण समवायस्यासंभवे संयोगस्याप्यसंभवः तस्य कार्यस्य कारण-समवायाभावेऽनुपपत्तेः।

विशेषार्थ—वैशेषिक यहाँ अपना पक्ष मजबूत करते हुए कहता है—हमारा अभिप्राय यह है कि आपने जो उपर्युक्त अनुमान से समवाय को धर्मी (पक्ष) बनाया है, वह प्रमाण से प्रतिपन्न (ज्ञात) है अथवा नहीं ? यदि नहीं तो आपका हेतु (सर्वथा अनाश्रितपना) आश्रय से असिद्ध है। यदि प्रमाण से प्रतिपन्न है तो जिस प्रमाण से धर्मों की प्रतिपत्ति होगी उसी प्रमाण से पक्ष बाधित है और हेतु कालात्ययापदिष्ट-बाधित विषय हेत्वाभास है। निःसंदेह जिस प्रमाण से समवाय ज्ञात होता है उसी प्रमाण से अयुतसिद्धों का सम्बन्धत्व भी ज्ञात हो जाता है क्योंकि अयुत सिद्धों के ही सम्बन्ध को समवाय कहा जाता है। अतः समवाय के सम्बन्धपना प्रमाणसिद्ध है।

जैन—यह कथन साधु (उचित) नहीं है, क्योंकि समवाय-ग्राही प्रमाण के द्वारा अविष्वग्भाव (अभिन्नभाव) लक्षण वाले आश्रित समवाय की ही प्राप्ति होती है। तथा उस समवाय का अनाश्रितपना स्वीकार करने में सम्बन्ध ही नहीं बनता है जिससे उस सम्बन्धपने के अभाव का प्रसंग होने से साधन की सिद्धि होती है। साध्य-साधन में व्याप्य-व्यापक भाव सिद्ध होने पर अन्य (प्रतिवादी) के मत में व्याप्य को स्वीकार करने पर व्याप्य का अविनाभावी व्यापक अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। तथा अनाश्रितपना सम्बन्ध के बिना दिशा आदि में व्याप्त होता है, यह असिद्ध नहीं है। और न ही अनैकान्तिक दोष युक्त है, क्योंकि किसी भी अनाश्रित का सम्बन्धपना सिद्ध नहीं है, जिससे विपक्ष में वृत्ति का अभाव माना जाये। इसलिए ही वह हेतु विरुद्ध भी नहीं है और न ही प्रतिपक्ष से सहित है क्योंकि अनाश्रित समवाय का भी सम्बन्धत्व को व्यवस्थापित करने वाले अनुमान का अभाव है। इस प्रकार वैशैषिकों का समवाय सम्बन्ध सिद्ध नहीं है। जिस कारण से उस समवाय सम्बन्ध के बल से अभिन्न अवयवी (पट) आदि की भी अभेद रूप से प्रतिपत्ति सिद्ध होवे। जिससे भेद के द्वारा ही वे जानने में आयें किन्तु ऐसा दिखाई नहीं देता है अतः वैशेषिकों को यह प्रत्यक्ष विरोध दूर करना बहुत दुष्कर है।

२३. इस प्रकार उक्त प्रकार से समवाय का सिद्ध होना असंभव होने पर संयोग का भी सिद्ध होना असंभव है क्योंकि उस संयोगज कार्य के कारणभूत समवाय का अभाव हो जाने पर उसकी

२४. एवं सम्बन्धाभावे न किंचित् वस्तुभेदैकान्तवादिमते व्यवतिष्ठते। तथा हि–तावत् परमाणूनां संयोगाभावे द्व्यणुकादिप्रक्रमेणावयविनोऽनुत्पत्तेः कार्यरूपभूतचतुष्टयाभावः, तदभावे तत्कारणचतुर्विध-परमाणवोऽपि न संभाव्यन्ते; कार्यलिङ्गत्वात् कारणस्य।

''कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम्।''

[आप्तमी० श्लो० ६८] इति वचनात्।

तथा भूतचतुष्टयासत्त्वे परापरादिप्रत्ययापायात्। ''इदमतः पूर्वेण'' इत्यादि प्रत्ययापायाच्च [न] कालो दिक्च व्यवतिष्ठते। तथा भेरीदण्डाद्याकाशसंयोगाभावात् संयोगजशब्दस्यानुत्पत्तिः, सर्वत्रावयवसंयोगाभावे तद्विभागस्याप्ययोगाद् विभागजशब्दस्याप्यनुत्पत्तिः; तयोरनुदये शब्दजशब्दस्यासम्भवः; इति सकल-शब्दानुत्पत्तेराकाशव्यवस्थापकोपायादाकाशहानिः। तथा आत्मान्तःकरणसंयोगासिद्धेः बुद्ध्यादि-गुणानुत्पत्तिः; तदभावे चात्मव्यवस्थापकोपायासत्त्वादात्मतत्त्वहानिः। तथा बुद्ध्यनुत्पत्तौ मनसोऽसिद्धिः; क्रमतो ज्ञानोत्पत्तेर्मनोलिङ्गत्वात्। ''युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'' [न्यायसू० १/१/१६] इति वचनात्।

उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

२४. इस प्रकार सम्बन्ध का अभाव होने पर कोई भी वस्तु भेदैकान्तवादियों के मत में नहीं ठहरती है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है। जैसे कि परमाणुओं के संयोग के अभाव में द्व्यणुक आदि क्रम से अवयवी (घट आदि पदार्थ) की उत्पत्ति नहीं होने से कार्यरूप भूतचतुष्टय का अभाव होगा। उसका अभाव होने पर उस कार्य के कारणभूत चार प्रकार के परमाणुओं की भी संभावना नहीं है क्योंकि कार्य की पहचान से ही कारण को जाना जाता है।

आप्तमीमांसा में भी कहा है ''कार्य की भ्रान्ति हो जाने पर कारणभूत अणु की भ्रान्ति भी हो जाती है क्योंकि कार्य का लिंग भी कारण को जानने का कारण है।''

तथा भूतचतुष्टय का सद्भाव नहीं होने पर पर (उत्कृष्ट), अपर (जघन्य) आदि प्रत्यय भी नहीं बनते हैं। यह इससे पूर्व में है, इत्यादि ज्ञान नहीं होने से न काल और न दिशा ही सिद्ध होती है। तथा भेरी, दण्ड आदि और आकाश के संयोग का अभाव होने से संयोगज शब्द की उत्पत्ति नहीं होती है। सर्वत्र अवयवों के संयोग का अभाव होने पर अवयव के विभागों का भी योग (जोड़) मेल नहीं होने से विभागज शब्द की भी उत्पत्ति नहीं होगी। संयोगज और विभागज शब्दों के अभाव में शब्द से उत्पन्न होने वाले शब्दज शब्द भी असंभव होंगे। इस प्रकार समस्त शब्दों की उत्पत्ति नहीं होने से आकाश की व्यवस्था करने वाले उपाय से आकाश की हानि होगी। उसी प्रकार आत्मा और अन्तःकरण (मन) का संयोग सिद्ध नहीं होने पर बुद्धि आदि गुणों की उत्पत्ति नहीं होगी। उन गुणों के अभाव में आत्मा के व्यवस्थापक उपाय का सद्भाव नहीं होने से आत्म तत्त्व की हानि होगी। तथा बुद्धि की उत्पत्ति नहीं होने पर मन की सिद्धि नहीं होगी क्योंकि क्रम से ज्ञान की उत्पत्ति में मन कारण होता है। कहा भी है–''एक साथ ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होने में मन कारण है।'' (न्यायसूत्र १/१/१६)

२५. एवं संयोगाभावे सर्वद्रव्याभावः। अथवा समवायाभावे सत्तासमवायासंभवात् सर्वद्रव्यः प्रच्युतः। सर्वद्रव्यहानौ तदाश्रितगुणकर्मसामान्यविशेषाणामसिद्धिः आश्रयाभावे सत्याश्रयिणा[म]भावात्, तन्त्वभावे पटाभाववदिति। संसर्गहानेः सकलार्थहानिर्दुर्निवारा वैशैषिकाणामुपनिपतति। तदुक्तं स्वामिसमन्तभद्रपादैः–

''अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं तव स्वतन्त्रान्यतरत्खपुष्पम्।
अवृत्तिमत्त्वात् समवायवृत्तेः संसर्गहानेः सकलार्थहानिः॥''

[युक्त्यनु॰ श्लो॰ ७] इति।

२६. एवं विचार्यमाणाः सर्वथाभिन्नावयवावयव्यादयः स्वयमेव न सन्ति यतः प्रत्यक्षेण प्रतिभासेरन्। तत्प्रत्यनीकाश्च कथंचिद्भिन्नास्ते प्रत्यक्षतः प्रतिभासन्त इति स्थितं दृष्टिविरुद्धं वैशेषिकमतमिति।

२७. तथा तदिष्टविरुद्धं च। तथाहि–विवादापन्नं ''तनुकरणभुवनादिकं बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वात् घटादिवत्'' इति जगतो महेश्वरकृतत्वं यौगैः व्यवस्थाप्यते, तच्चानुमानविरुद्धम्, तद्बाधकानुमानसद्भावात्। तच्चेदम्–नेश्वरस्तन्वादीनां कर्ता, अशरीरत्वात्, य एवं स एवम्, यथात्मा, तथा चायम्, तस्मात्तथैवेति। न

---

२५. इस प्रकार संयोग का अभाव हो जाने पर समस्त द्रव्यों का अभाव हो जाता है। अथवा समवाय का अभाव होने पर सत्ता समवाय का होना असंभव होगा जिससे समस्त द्रव्य अपने स्वरूप से च्युत हो जायेंगे। सभी द्रव्यों की हानि होने पर उन द्रव्यों के आश्रित रहने वाले गुण, कर्म, सामान्य और विशेष की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। आश्रय का अभाव होने पर आश्रयी गुण आदि का अभाव होगा। जैसे तन्तु का अभाव होने पर पट का अभाव होता है। इस तरह संयोग की हानि से समस्त पदार्थों की हानि रोकना वैशेषिकों को अत्यन्त कठिन हो जायेगा। **स्वामी समन्तभद्रदेव** ने भी कहा है–''हे भगवन्! आपका अर्थ तत्त्व अभेद-भेदात्मक है। आपके मत से भिन्न हुए अर्थात् स्वतंत्र अन्य आकाश पुष्प के समान असत् है। समवाय वृत्ति का अवृत्तिमान सिद्ध हो जाने से संसर्ग की हानि होती है और संसर्ग की हानि से समस्त अर्थ की हानि होती है।'' (युक्त्यनु॰ / ७)।

२६. इस प्रकार विचार किये हुए सर्वथा भिन्न अवयव-अवयवी आदि स्वयं ही नहीं हैं जिससे वे प्रत्यक्ष से दिखाई देवें। किन्तु इसके विपरीत कथंचित् भिन्न ही वे अवयव-अवयवी आदि प्रत्यक्ष से दिखाई देते हैं। इसलिए वैशेषिक मत दृष्ट विरुद्ध है, यह निश्चित हो जाता है।

२७. दृष्ट विरुद्ध की तरह यह मत इष्ट विरुद्ध भी है। वह इस प्रकार है–विवादग्रस्त ''शरीर, इन्द्रियाँ, लोक आदि किसी बुद्धिमान के द्वारा बनाये गये हैं क्योंकि ये कार्य हैं, जैसे घट आदि कार्य किसी बुद्धिमान के कारण बनते हैं।'' इस प्रकार जगत् महेश्वर के द्वारा बनाया गया है, यह यौग लोगों ने माना है, वह भी अनुमान विरुद्ध है क्योंकि उसके बाधक अनुमान का सद्भाव है। वह यह है–ईश्वर शरीर आदिकों का कर्त्ता नहीं है क्योंकि वह शरीर रहित है। जो इस प्रकार अशरीरी है वह कर्त्ता नहीं है जैसे आत्मा है, उसी प्रकार ईश्वर है, इसीलिए शरीर आदि ईश्वर कृत नहीं है। यह हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि ईश्वर के शरीर नहीं होता है। उस शरीर को अवयव सहित मानने पर ईश्वर

चात्रासिद्धो हेतुः, तस्य शरीरत्वायोगात्। तच्छरीरस्य सावयवस्य नित्यत्वानुपपत्तेः। नित्यस्यापि तच्छरीरस्य बुद्धिमत्कारणापूर्वकत्वे तेनैव कार्यत्वादिहेतूनां व्यभिचारात्। तस्य बुद्धिमत्कारणसपूर्वत्वे वा परापरशरीरकल्पनायामनवस्थाप्रसंगात्। पूर्वपूर्वस्य शरीरेणोत्तरोत्तरस्वशरीरोत्पत्तौ भवस्य निमित्तकारणत्वे सर्वसंसारिणां तथा प्रसिद्धेरीश्वरकल्पनावैयर्थात्। स्वोपभोग्यभुवनाद्युत्पत्तावपि तेषामेव निमित्तकारणत्वोप-पत्तेरिति; तत् कार्यत्वा-चेतनोपादानत्वसन्निवेशविशिष्टहेतवो गमकाः स्युः। ''अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।'' [छान्दो॰ ८/१२/१] इत्यागमविरोधाच्च।

२८. एवमशरीरत्वे सिद्धे नेश्वरस्तस्य तन्वादीनां कर्ता स्यात्, वितनुकरणस्य तस्य तत्कृतेरयोगात्। तादृशोऽपि निमित्तभावे कर्मणामचेतनत्वेऽपि तन्निमित्तत्वमविप्रतिषिद्धम्, सर्वथा दृष्टान्तव्यतिक्रमात्। यथैव हि कुलालादिसतनुकरणः कुम्भादेः प्रयोजको दृष्टान्तः तनुकरणभुवनादीनामशरीरेन्द्रियेश्वरप्रयोजकत्व-कल्पनया व्यतिक्रम्यते तथा कर्मणामचेतनानामपि तन्निमित्तत्व-कल्पनया बुद्धिमानपि दृष्टान्तो व्यतिक्रम्यतां

का नित्यपना नहीं बन सकता है। ईश्वर के उस नित्य शरीर का भी किसी बुद्धिमान के कारण पूर्वक सिद्ध नहीं होने पर उस शरीर के द्वारा ही कार्यत्व आदि हेतुओं को व्यभिचार दोष आता है। यदि ईश्वर के उस शरीर को किसी बुद्धिमान के कारण पूर्वक होना माने तो पहले-बाद के शरीर की कल्पना में अनवस्था का प्रसंग आ जायेगा। अर्थात् यदि उस ईश्वर का शरीर किसी ने बनाया है तो उसका भी शरीर किसी ने बनाया होगा, इस तरह अनवस्था होती है।

पूर्व-पूर्व के शरीर से आगे-आगे के अपने शरीर की उत्पत्ति ईश्वर के होना मानने पर, ईश्वर को समस्त संसारी जीवों की उत्पत्ति में निमित्त कारणता सिद्ध करना, ईश्वर की कल्पना को व्यर्थ करना ही है।

यदि ईश्वर अपने उपभोग के योग्य इस जगत् आदि की उत्पत्ति करता है ऐसा मानते हो तो वह ईश्वर उन संसार आदि का ही निमित्त कारण बनकर उत्पत्ति करेगा। इस तरह उसके कार्य अचेतन उपादान की रचना के विशिष्ट हेतु को बताने वाले होंगे। जब कि छान्दोग्योपनिषद् में कहा है- ''अशरीरी रहता हुआ वह प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख को छूता नहीं है।'' अर्थात् अशरीरी को सुख-दुःख छूते नहीं है। इस प्रकार आपके आगम से भी विरोध आयेगा।

२८. इस प्रकार ईश्वर का अशरीरत्व सिद्ध हो जाने पर वह ईश्वर जगत् और शरीरादिकों का कर्त्ता नहीं हो सकता है क्योंकि शरीर और इन्द्रिय रहित उस ईश्वर को शरीर आदि बनाने का योग नहीं है। यदि कहो कि अशरीरी ईश्वर भी निमित्त भाव से यह सब करता है जैसे कि आपके यहाँ भी तो कर्मों को अचेतन मानने पर भी उन कर्मों का निमित्तपना सिद्ध है। यह कहना सर्वथा दृष्टान्त से विरुद्ध है। जिस प्रकार कुम्भकार आदि शरीर, इन्द्रिय से सहित होता है और वह घड़े को बनाता है, यह प्रयोजक दृष्टान्त है, किन्तु यह दृष्टान्त शरीर इन्द्रिय, संसार आदि को बनाने वाले अशरीरी एवं इन्द्रिय रहित ईश्वर की प्रयोजकत्व कल्पना से विपरीत पड़ता है। उसी तरह अचेतन कर्मों का भी उस आत्मा को फल देने में निमित्तपना है इस कल्पना से बुद्धिमान (ईश्वर) का भी दृष्टान्त विपरीतपने

विशेषाभावात्।

२९. स्यान्मतम्–सशरीरस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नवत एव कुलालादेः कारकप्रयोक्तृत्वं दृष्टम्, कुटादिकार्यं कर्तुमबुद्ध्यमानस्य तददर्शनात्, बुद्धिमतोऽपीच्छापाये तदनुपलब्धेः; तदिच्छावतोऽपि प्रयत्नाभावे तदनुपलम्भात्; तद्वद्वितनुकरणास्यापि बुद्धिमतः स्रष्टुमिच्छतः प्रयत्नवतः शश्वदीश्वरस्य समस्तकारक-प्रयोक्तृत्वोपपत्तेर्न दृष्टान्तव्यतिक्रमः, सशरीरत्वेतरयोः कारकप्रयुक्तिं प्रत्यनङ्गत्वात्। न हि सर्वथा दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः साम्यमस्ति, तद्विशेषविरोधादिति; तदयुक्तम्, बुद्ध्यादीनामपि तस्यासंभवात्। ईश्वरो ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नत्रयवान्न भवति; अशरीरत्वात्; मुक्तात्मवदिति तदभावसिद्धेः। अशरीरत्वाविशेषेऽपि सादिमुक्तानामेव बुद्ध्यादिरहितत्वं न त्वनादिमुक्तस्येश्वरस्येति चेत्; न, अनादिमुक्तसिद्धेः। ''ईश्वरस्याशरीरत्वं सादि अशरीरत्वात् मुक्तात्माऽशरीरत्ववत्'' इति तद्बाधकसद्भावात्। अत्राप्यशरीरत्वाविशेषेऽपि मुक्तात्मा-शरीरत्वमेव सादि न त्वीश्वराशरीरत्वमिति चेत्; न, अनुपपत्तिकत्वात्; जगत्कर्तृत्वसर्वज्ञत्वा-

---

को प्राप्त होवे, क्योंकि ईश्वर में विशेषता का अभाव है।

२९. कोई मानता है कि, सशरीरी भी जब बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न वाला होता है तब उसी कुम्भकार आदि को कार्य करने वाला देखा जाता है, कुट (कलश) आदि कार्य को करना जो नहीं जानता है, उस कार्य का दर्शन भी नहीं होता है। बुद्धिमान को भी इच्छा नहीं होने पर कार्य की प्राप्ति नहीं होती है। उस कार्य की इच्छा करने वाले को भी प्रयत्न का अभाव होने पर उस कार्य की प्राप्ति नहीं होती है उसी तरह शरीर, इन्द्रिय रहित भी बुद्धिमान नित्य ईश्वर के, जो जगत् को बनाने के लिए इच्छा और प्रयत्न वाला है, के समस्त कार्यों का कारकपना और भोक्तापना बन जाता है, जिससे यह दृष्टान्त विरुद्ध नहीं है। वह ईश्वर शरीर सहित हो अथवा शरीर रहित हो, कार्य के लिए कर्ता आदि कारकों का प्रयोग करने के प्रति उसका अनंगपना है अर्थात् शरीर का कोई प्रयोजन नहीं है। दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त में सर्वथा साम्य तो रहता नहीं है क्योंकि उनमें विशेषता से विरोध आता है।

परिहार—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर को बुद्धि आदि का होना असंभव है। वह ईश्वर ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न इन तीनों से युक्त नहीं होता है क्योंकि वह शरीर रहित होता है। मुक्त आत्माओं की तरह ईश्वर में बुद्धि आदि का अभाव सिद्ध है।

शंका—अशरीरीपना सामान्य से होने पर भी सादि मुक्त आत्माओं को ही बुद्धि आदि से रहितपना होता है अनादि-मुक्त ईश्वर को नहीं।

समाधान—नहीं, अनादि मुक्त कोई सिद्ध नहीं होता है।

उसमें बाधक प्रमाण का सद्भाव इस तरह है–''ईश्वर का शरीर रहितपना होना सादि है क्योंकि वह शरीर रहित हुआ है जैसे मुक्तात्मा शरीरत्व रहित होता है।''

शंका—इस अनुमान में भी अशरीरत्व सामान्य रूप से होने पर भी मुक्तात्मा का ही अशरीरत्व होना सादि है, ईश्वर का अशरीरत्व होना सादि नहीं है।

समाधान—नहीं, ऐसा कोई भी आत्मा उत्पन्न नहीं हो सकता है। जगत् का कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व

दीनामीश्वरविशेषणानां विवादगोचरत्वे न ततो वैलक्षण्याभिधानानुपपत्तेः। तथापि यदि तथेष्यते तर्हि कार्यत्वाविशेषेऽपि घट-पट-कट-कटक-शकट-मुकुटादीनां बुद्धिमद्धेतुकत्वं न तु मही-महीधर-महीरुहा-दीनामिति किं नेष्यते। अकृतसमयस्यापि कृतबुद्ध्युत्पादकेभ्यो घटादिभ्यः तदनुत्पादकभुवनादीनां वैलक्षण्यस्यापि संभवात्। एवमशरीरत्वे बुद्धीच्छाप्रयत्नवत्त्वासिद्धेः तदसिद्धौ सकलकारकप्रयोक्तृत्वानुपपत्तेः सूक्तमीश्वरस्तन्वादीनां न कर्तेति।

३०. तथापि यदि वैय्यात्यादीश्वरः कर्तेत्यभिधीयते तदा प्राणिनां विचित्रघोरदुःखशतानीश्वरः करोति वा, न वा, यदि न करोति तदा तैः कार्यत्वादिहेतूनां व्यभिचारः। अथ करोतीति मतम्, तदसंभाव्यम्; इह हि कश्चिदसर्वज्ञः प्रणष्टरागद्वेषो मुनिरन्यो वा साधुः परपीडां न करोति किल, स एव महर्षीणामप्याराध्यः सर्वज्ञो वीतरागद्वेषमोहो भगवान् महेश्वरः प्राणिनामनिमित्तमसह्यविविधोग्रदुःखपरम्परामुत्पाद्य जगत्त्रयं परिपीडय-तीति कथमिदं प्रेक्षावद्भिः संभाव्यते। तत्करणे वा तस्य अत्युग्रापूर्वराक्षसत्वमेव, न तु महद्भिः स्तुत्यं महेश्वरत्व-मिति तस्य तत्करणमसंभाव्यम्।

आदि ईश्वर के विशेषण विवाद के विषय हो जाने पर उस ईश्वर से विलक्षण नाम की सिद्धि नहीं होती है। फिर भी यदि उसी प्रकार कहते हैं तो कार्यत्व सामान्य होने पर भी घड़ा, कपड़ा, चटाई, कड़ा, गाड़ी, मुकुट आदि बुद्धिमान् पुरुष के हेतुभूत है, किन्तु धरती, पर्वत, वृक्ष आदि नहीं ऐसा क्यों नहीं कहते हो ?

संकेत ग्रहण न करने वाले पुरुष को भी बुद्धि लगाकर जिनकी उत्पत्ति होती है ऐसे घट आदि से अकृत बुद्धि वाले अर्थात् जिनका कर्ता ज्ञात नहीं है, ऐसे संसार आदि की विलक्षणता भी संभव है।

इस प्रकार ईश्वर का अशरीरपना मानने पर उसके बुद्धि, इच्छा और प्रयत्नपना सिद्ध नहीं होने से बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न का होना असिद्ध हो जाने पर सकल कारकों का प्रयोक्तृत्व ईश्वर के सिद्ध नहीं होता है, इसलिए ठीक ही कहा है कि ईश्वर शरीर आदि का कर्त्ता नहीं है।

३०. फिर भी यदि निर्लज्जता से ईश्वर कर्त्ता है, ऐसा कहा जाता है तो प्राणियों के अनेक प्रकार के घोर सैकड़ों दुःखों को ईश्वर करता है, अथवा नहीं करता है ? यदि नहीं करता है तो घोर दुःखों के साथ कार्यत्व आदि हेतुओं का व्यभिचार प्राप्त होता है। यदि यह मानें कि ईश्वर दुःख करता है तो वह असंभव लगता है। इस लोक में सर्वज्ञ नहीं है तो भी राग, द्वेष से रहित कोई मुनि अथवा अन्य साधु दूसरे जीवों को पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं, वही महेश्वर सर्वज्ञ, राग, द्वेष, मोह से रहित, महर्षियों को भी आराध्य भगवान् प्राणियों को बिना कारण के असह्य अनेक प्रकार के उग्र दुःखों की परम्परा को देकर तीन लोक में सभी को पीड़ा उत्पन्न कराता है, तो वह ईश्वर विचारवानों की समझ में कैसे आ सकता है ? यदि फिर भी दुःखों को करने में ईश्वर को कर्त्ता माने तो उसके अत्यन्त उग्र राक्षसपना ही हुआ। न कि महान् व्यक्तियों से स्तुत्य उसका महेश्वरत्व है, इस प्रकार ईश्वर का कर्त्तापन संभव नहीं है।

३१. ननु प्राणिनामीश्वरो दुःखमुत्पादयतीति चेत्; न; दुःखहेतूनापि पापकर्मणामीश्वरकृतत्वे तस्यैव दुःखहेतुत्वसिद्धेः, तत्पक्षोपक्षिप्तदोषानुषंगात्। तेषां तदकृतत्वे तनुकरणादेरपि तत्कृतत्वं मा भूत्; विशेषा-भावात्। कर्मभिरीश्वरसाधकहेतूनामनैकान्तिकत्वाच्च; कर्मणामबुद्धिमन्निमित्तत्वेऽपि कार्यत्वार्थ-क्रियाकारित्व-स्थित्वा (त्या) प्रवर्तनानां संभवात्। यदि कल्पयित्वापीश्वरमवश्यं कर्मानुमन्यते; तदा केवलं कर्मैव तनुकरणादिनिमित्तमिष्यताम्, किमनेनेश्वरेण प्रमाणबाधितेन, तथा च परेषां पारंपर्यपरिश्रमपरिहारः स्यात्।

३२. ननु कथमचेतनानां कर्मणां विचित्रोपभोग-योग्यतनुकरणाद्युत्पादकत्वमिति चेत्; कथमुन्मत्त-मदिरा-मदनकोद्रवादीनामुन्मादादिविचित्रकार्योत्पादकत्वम्। कथं वा अयस्कान्तविशेषाणां लोहाकर्षण-भ्रमणादि-कार्यकारित्वमित्यभिधीयताम्। तथादृष्टत्वादिति चेत्; तत एव प्रकृतः स्वभावव्या-लम्भोऽपि निवर्त्यताम्। तथा ''सुखदुःख-लाभालाभादीनामदृष्टं कारणमस्ति, दृष्टकारणव्यभिचारान्यथा-नुपपत्तेः'' इत्यनुमितत्वात्। न चैवमीश्वरस्याप्यनुमितत्वादुपालम्भप्रसंगानिवृत्तिः स्यादिति शङ्कनीयम्, तदनुमानस्यानेक-दोषदुष्टत्वात्।

---

३१. और यदि प्राणियों को ईश्वर दुःख उत्पन्न नहीं कराता है, ऐसा कहते हो, सो भी नहीं बनता है।, क्योंकि दुःख के हेतुभूत पाप कर्मों को ईश्वर का किया मानने पर इस ईश्वर को ही दुःख के कारणों की सिद्धि होगी और ईश्वर को कर्त्ता मानने के पक्ष में जो दोष कहे हैं, वे सब यहाँ भी घटित होंगे। उन कर्मों के द्वारा उस दुःख का कृतत्व ईश्वर के नहीं मानने पर शरीर, इन्द्रिय आदि के भी ईश्वर कृतत्व नहीं होवे क्योंकि दोनों कार्यों में विशेषता का अभाव है।

प्राणियों के कर्मों के द्वारा ईश्वर उनके दुःखों का कर्त्ता है, यह सिद्धि करने वाले हेतुओं को अनैकान्तिक दोष आता है। कर्मों का अबुद्धिमत् निमित्तत्व होने पर भी कार्यत्व, अर्थक्रियाकारित्व और स्थिति से प्रवर्तन करने वाले कर्मों की सम्भावना है।

यदि किसी भी तरह कल्पना करके भी ईश्वर अवश्य ही कर्म की मान्यता पर चलता है तो केवल कर्म ही शरीर, इन्द्रिय आदि का निमित्त है, ऐसा स्वीकारना चाहिए। प्रमाण से बाधित ईश्वर को मानने से क्या प्रयोजन? जिससे दूसरों के निरन्तर परिश्रम का परिहार हो जावे।

३२. **शंका**—जो कर्म अचेतन है वह विचित्र उपभोग के योग्य शरीर, इन्द्रियाँ आदि को उत्पन्न करने वाले कैसे हो सकते हैं ? यदि ऐसा कहते हो तो मैं पूछता हूँ कि उन्मत्त करने वाली मदिरा और मद पैदा करने वाले कौंदों, चावल आदि द्रव्यों के मनुष्यों में उन्माद आदि विचित्र कार्य कैसे उत्पन्न करा देते हैं? कैसे चुम्बक विशेष से लोह कणों का खिंचना, घूमना आदि कार्य होता है, ऐसा कहा जावे। वह सब अदृष्ट से होता है। ऐसा मानें तो उस अदृष्ट से ही ईश्वर के प्रसंग से स्वभाव की विपरीत प्राप्ति हो रही है, वह दूर हो जायेगी। तथा ''सुख, दुःख, लाभ, अलाभ आदि का कारण अदृष्ट है, क्योंकि दृष्ट कारणों में व्यभिचार दोष अन्यथा बन नहीं सकता है'', ऐसा अनुमान प्रमाण है। इसी प्रकार ईश्वर के विषय में अनुमान प्रमाण लगाने से उलाहना का प्रसंग दूर हो जायेगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह अनुमान भी अनेक दोषों से दूषित है।

३३. तथाहि–तनुकरणभुवनादेः कार्यत्वादिसाधनं किमेकबुद्धिमत्कारणत्वं साधयेत्, अनेक-बुद्धिमत्कारणं वा, प्रथमपक्षे प्रासादादिना अनेकसूत्रधारयजमानादिहेतुना तदनैकान्तिकम्। द्वितीयपक्षे सिद्ध-साधनम्, नानाप्राणिनिमित्तत्वात्तदुपभोग्य-तन्वादीनाम्, तेषां तददृष्टकृतत्वात्।

३४. एतेन बुद्धिमत्कारणसामान्यसाधने सिद्धसाधनमुक्तम्; तदभिमतविशेषस्याधिकरण-सिद्धान्त-न्यायेनाप्यसिद्धेः। सामान्यविशेषस्य साध्यत्वाददोष इति चेत्, न; दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्य-विकल्प-द्वयानतिवृत्तेः। दृष्टविशेषाश्रयस्य सामान्यस्य साध्यत्वे स्वेष्टविघातात्। अदृष्टविशेषाश्रयस्य सामान्यस्य साध्यशून्यत्वप्रसंगात्। निदर्शनाय दृष्टेतरविशेषाश्रयस्य सामान्यसाधनेऽपि स्वाभिमत-विशेषसिद्धिः कुतः स्यात्।

३५. अधिकरणसिद्धान्तन्यायादिति चेत्; कोऽयमधिकरणसिद्धान्तो नाम, ''यत्सिद्धावन्य-प्रकरणासिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः'' [न्यासू० १/१/३०] ततो दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्यमात्रस्य बुद्धि-मन्निमित्तस्य जगत्सु प्रसिद्धौ प्रकरणाज्जगन्निर्माणसमर्थः समस्तकारकाणां प्रयोक्ता सर्वदाऽविलुप्त-

---

विशेष–''अदृष्ट'' नामक पदार्थ की कल्पना करके प्रतिवादी अपने आपकी रक्षा करना चाहता है। उसी अदृष्ट को सिद्ध करके ईश्वर को सिद्ध करना चाहता है किन्तु उसका जो अनुमान है, वह अनेक दोषों से युक्त है, वही यहाँ दिखाते हैं।

३३. वह इस प्रकार है–शरीर, इन्द्रिय, संसार आदि के कार्यत्व आदि का साधन क्या एक बुद्धिमत्कारण को सिद्ध करता है या अनेक बुद्धिमत्कारण को। प्रथम पक्ष में हेतु अनैकान्तिक है क्योंकि अनेक सूत्रधारों और यजमान आदि महल आदि को बनाते हैं। द्वितीय पक्ष में सिद्ध साधन दोष आता है क्योंकि वे उपभोग के योग्य शरीर आदि अनेक प्राणियों के निमित्तपने से होते हैं और वे शरीर आदि अदृष्ट के द्वारा किए गए हैं।

३४. इससे बुद्धिमत् कारण सामान्य को साधन बनाने में सिद्ध साधन दोष कहा है। तथा आपको मान्य बुद्धिमत् कारण विशेष अधिकरण, सिद्धान्त, न्याय से भी असिद्ध है।

शंका–सामान्य, विशेष का साध्यत्व होने से वह दोष रहित है ?

समाधान–नहीं दृष्ट, अदृष्ट विशेष का आश्रय सामान्य के दोनों विकल्पों का उल्लंघन नहीं करता है। जो सामान्य दृष्ट विशेष का आश्रय है, उसको साध्यत्व होने पर अपने इष्ट का घात होता है। जो सामान्य अदृष्ट विशेष का आश्रय है, उसको साध्यत्व होने पर साध्य के शून्यत्व का प्रसङ्ग आता है। दृष्ट-अदृष्टविशेष आश्रय का सामान्य साधन होने पर भी दृष्टान्त के लिए स्वाभिमत विशेष की सिद्धि कैसे हो ?

३५. **शंका–**अधिकरण, सिद्धान्त, न्याय से स्वाभिमत की सिद्धि होती हैं ?

समाधान–अधिकरण सिद्धान्त किसका नाम है ? **न्याय-सूत्र** में कहा है कि ''जिसकी सिद्धि होने पर अन्य प्रकरण की असिद्धि हो वह अधिकरण सिद्धान्त है।''

शक्तिर्विभुरशरीरत्वादिविशेषाश्रय एव सिद्ध्यतीति चेत्, स्यादेवम्, यदि सकलजगन्निर्माणसमर्थेनैकेन समस्तकारकाणां प्रयोक्त्रा सर्वज्ञत्वादिविशेषोऽपि तेनाविनाभाविदृष्टेतर-विशेषाधिकरणबुद्धिमत्कारण-सामान्यं कुतश्चित्सिद्धेत्; न च सिद्ध्यति; अनेकबुद्धिमत्कारणेनैव स्वोपभोग्यतन्वादि-निमित्तकारणविशेषेण तस्य व्याप्तत्वसिद्धेः समर्थनात्। तथा सर्वज्ञवीतरागकर्तृकत्वे साध्ये घटादिना अनैकान्तिकं साधनम्। साध्यविकलं च निदर्शनम्। सरागसर्वज्ञकर्तृकत्वे साध्ये अपसिद्धान्तः। सर्वथा कार्यत्वं च साधनं तन्वादावसिद्धम्, तस्य कथंचित् कारणत्वात्। कथंचित् कार्यत्वं तु विरुद्धम्, सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तत्वात् साध्याद्विपरीतस्य कथंचिबुद्धिमन्निमित्तत्वस्य साधनात्। तथा पक्षोऽप्यनुमानबाधितः स्यात् ''नेश्वरस्तन्वादीनां कर्त्ता ज्ञानादिरहितत्वात्, मुक्तवत्'' इति प्रागुक्तानुमानस्य तद्बाधकस्य भावादिति, जगतो बुद्धिमद्धेतुकत्वं न सिद्ध्यति, साधकस्याभावाद् बाधकस्य संभवाद्। ततः सूक्तमिष्टविरुद्धं वैशेषिकमतमिति।

[इति वैशेषिकशासन-परीक्षा]

इसलिए दृष्ट, अदृष्ट विशेष के आश्रय भूत सामान्य मात्र और बुद्धिमन्निमित्त की जगत् में प्रकृष्ट सिद्धि हो जाने पर, इस प्रकरण से जगत् के निर्माण में समर्थ, समस्त कारकों का प्रयोक्ता, सर्वदा शाश्वत् शक्ति वाला, विभु और अशरीरत्व आदि विशेष के आश्रय ही सिद्ध होता है यदि यह कहते हैं तो ऐसा हो सकता है यदि सकल जगत् के निर्माण में समर्थ किसी एक और समस्त कार्यों के प्रयोक्ता के द्वारा सर्वज्ञत्व आदि विशेष भी उससे अविनाभाव रखने वाला दृष्ट, अदृष्ट, विशेषाधिकरण बुद्धिमत्कारण सामान्य को भी किसी हेतु से सिद्ध कर दे? वह सिद्ध नहीं कर सकता है क्योंकि अनेक बुद्धिमत् कारणों से ही अपने भोग के योग्य शरीर आदि में निमित्त कारण विशेष बनते हैं। जिससे उस ईश्वर की व्याप्तिपने की सिद्धि का समर्थन होता है। तथा सर्वज्ञ-वीतराग-कर्त्ताकारक को साध्य मानने पर घट आदि के साथ हेतु अनैकान्तिक सिद्ध होता है। दृष्टान्त भी साध्य विकल है। सराग-सर्वज्ञ कर्त्ता को साध्य मानने पर सिद्धान्त का अपलाप होता है। सर्वथा कार्यत्व और शरीर आदि में सर्वथा कारण असिद्ध है, क्योंकि शरीर आदि कथंचित् कारण रूप से हैं। उन शरीर आदि के विषय में सराग सर्वज्ञ आदि का शरीर आदि के विषय में ईश्वर के कर्तृत्व को सिद्ध करने वाला कार्यत्वहेतु असिद्ध है क्योंकि किसी अपेक्षा से कार्यत्वहेतु कर्तृत्व का ज्ञापक कारण होता है तथा कार्यत्वहेतु को कथंचित् साध्य का साधक माने तो हेतु विरुद्धहेत्वाभास हो जाता है क्योंकि सर्वथा बुद्धिमत् निमित्तरूप साध्य से विपरीत कथंचित् बुद्धिमत् निमित्तत्व रूप साध्य का साधन करने वाला वह हो जाता है जिससे साधन विरोध को प्राप्त होता है। तथा यहाँ पक्ष भी अनुमान से बाधित है। ''ईश्वर शरीर आदि का कर्ता नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान आदि से रहित है जैसे मुक्त जीव।'' इस प्रकार पहले कहा हुआ अनुमान उस पक्ष का बाधक है। जगत् का बुद्धिमत् हेतु भी सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि इस विषय में साधक कारण का अभाव है और बाधक का सद्भाव है। इसलिए ठीक ही कहा है कि यह वैशेषिक मत इष्टविरुद्ध (अनुमानविरुद्ध) भी है।

[इति वैशेषिकशासन-परीक्षा]

९.
नैयायिक-शासन-परीक्षा
[पूर्वपक्षः]

१. वैशेषिकसमसिद्धान्ता नैयायिकास्त्वेवमामनन्ति –

''प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।'' [न्यायसू० १/१/१]

२. किं च, भक्तियोग-क्रियायोग-ज्ञानयोगत्रयैर्यथासंख्यं सालोक्यं सारूप्यं सामीप्यं सायुज्यं मुक्तिर्भवति।

३. तत्र महेश्वरः स्वामी स्वयं भृत्य इति तच्चित्तो भूत्वा यावज्जीवं तस्य परिचर्याकरणं भक्तियोगः, तस्मात्सालोक्यमुक्तिर्भवति।

४. तपःस्वाध्यायानुष्ठानं क्रियायोगः। तत्रोन्मादकादिव्यपोहार्थमाध्यात्मिकादिदुःखसहिष्णुत्वं तपः, प्रशान्तमन्त्रस्येश्वरवाचिनोऽभ्यासः स्वाध्यायः, तदुभयमपि क्लेशकर्मक्षयाय समाधिलाभाय चानुष्ठेयम्। तस्मात्क्रियायोगात् सारूप्यं सामीप्यं वा मुक्तिर्भवति। विदितपदार्थस्येश्वरप्रणिधानं ज्ञानयोगः।

नैयायिक-शासन-परीक्षा
[पूर्वपक्ष]

१. वैशेषिक के समान नैयायिकों का सिद्धान्त है जो इस प्रकार मानते हैं–''प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान इन सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।'' [न्याय सू० १/१/१]

२. और भक्तियोग, क्रियायोग, ज्ञानयोग इन तीनों के द्वारा संख्यानुसार (क्रमानुसार) सालोक्य, सारूप्य अथवा सामीप्य और सायुज्य मुक्ति होती है।

३. उसमें महेश्वर स्वामी है, स्वयं मैं भृत्य (सेवक) हूँ, इस प्रकार उसमें एकाग्रचित्त होकर जीवनपर्यन्त तक महेश्वर की सेवा करना भक्ति योग है, जिससे सालोक्य मुक्ति होती है।

४. तप और स्वाध्याय का अनुष्ठान क्रियायोग है। वहाँ उन्मादक आदि भावों को दूर करने के लिए आध्यात्मिक यानि शारीरिक और मानसिक आदि दुःखों को सहन करना तप है। ईश्वर का कथन करने वाले प्रशान्त मन्त्रों का अभ्यास करना स्वाध्याय है। यह तप और स्वाध्याय दोनों ही क्लेश और कर्म के क्षय के लिए तथा समाधि की प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करने योग्य हैं। इसलिए क्रिया योग से सारूप्य अथवा सामीप्य मुक्ति होती है। जिसने पदार्थों को जान लिया है उसका ईश्वर में प्रणिधान (मन लगना) ज्ञान योग है।

५. परमेश्वरतत्त्वस्य प्रबन्धेनानुचिन्तनं पर्यालोचन-मीश्वरप्रणिधानम्। तस्य योगस्य यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयः अष्टाङ्गानि। तत्र देशकालावस्थाभिरनियताः पुरुषस्य विशुद्धवृत्तिहेतवो यमाः। अहिंसाब्रह्मचर्यास्तेयादयः देशकालावस्थापेक्षिणः पुण्यहेतवः क्रियाविशेषा नियमाः देवार्चन-प्रदक्षिण-संध्योपासन-जपादयः। योगकर्मविरोधिक्लेशजपाद्यर्थश्च रणबन्धः आसनम्। पद्मक-स्वास्तिकादेः कोष्ठस्य वायोर्गतिच्छेदः प्राणायामः रेचकपूरककुम्भकप्रकारः शनैः शनैरभ्यसनीयः। समाधिप्रत्यनीकेभ्यः समन्तात् स्वान्तस्य व्यावर्तनं प्रत्याहारः। चित्तस्य देशसम्बन्धो धारणा। तत्रैकतानता ध्यानम्। ध्यानोत्कर्षान्निर्वाताचलप्रदीपावस्थानमिवैकत्र चेतसावस्थानं समाधिः। एतानि योगान्तानि मुमुक्षुणा महेश्वरे परां भक्तिमाश्रित्याभियोगेन सेवितव्यानि। ततोऽचिरेण कालेन भवन्तमनौपम्यस्वभावं प्रत्यक्षं पश्यति; तं दृष्टवा निरतिशयं सायुज्यं निःश्रेयसं प्राप्नोति।

[उत्तरपक्षः]

६. तदेतत्तार्किकमतं दृष्टेष्टविरुद्धम्। प्रागनन्तरं प्रतिपादित-प्रकारेणैव प्रत्यक्षानुमानविरोध-योरत्राप्युपपत्तेः, अतो नात्र पृथक् तद्विरोधसमर्थनमुपक्रम्यते।

---

५. परमेश्वर तत्त्व का निरन्तर सुव्यस्थित अनुचिन्तन और पर्यालोचन (ध्यान) ईश्वर प्रणिधान है। उस योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आठ अंग हैं। उसमें देश, काल की अवस्थाओं से बन्धन रहित पुरुष की विशुद्ध वृत्ति के कारणों को **यम** कहते हैं। अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अचौर्य आदि देश, काल, अवस्था की अपेक्षा रखने वाले हैं तथा देवार्चन, प्रदक्षिण, संध्या उपासना, जप आदि क्रिया विशेष पुण्य के हेतु हैं जो **नियम** कहलाते हैं। योगकर्म के विरोधी क्लेश तथा जप आदि के लिए रणबन्ध **आसन** कहलाता है। पद्मासन, स्वस्तिक आदि आसन से कोष्ठ (फेंफड़े) की वायु की गति को वेदना (इच्छानुसार प्रवर्तन) **प्राणायाम** है जो कि रेचक, पूरक और कुम्भक के भेदों से धीरे-धीरे अभ्यास करने योग्य है। समाधि के विरोधी कारणों से चारों ओर से अपने मन को हटाना **प्रत्याहार** है। चित्त का एकदेश सम्बन्ध होना **धारणा** है। उसमें एकलीनता होना **ध्यान** है। ध्यान की उत्कृष्टता से हवा रहित निश्चल दीपक की लौ की तरह मन का एक स्थान पर ठहर जाना **समाधि** है। ये सभी योग के अंग मुमुक्षुओं को महेश्वर में उत्कृष्ट भक्ति के आश्रित होकर निरन्तर सेवनीय हैं। जिससे थोड़े ही समय में आप आपने उपमातीत स्वभाव को प्रत्यक्ष देख लेंगे। उसको देखकर निरतिशय सायुज्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

[उत्तर पक्ष]

६. यह तार्किक मत दृष्टेष्ट विरुद्ध है। पहले और आगे कहे गये ढंग से प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों विरोधों की यहाँ भी प्राप्ति होती है। इसलिए यहाँ उस विरोध और समर्थन का उपक्रम अलग से नहीं करते हैं।

७. किं च, तदभ्युपगतपदार्थेषु इन्द्रियबुद्धिमनसाम् अर्थोपलब्धिसाधकत्वेन प्रमाणत्वात् प्रमेयेष्वन्तर्भावानुपपत्तेः, अन्यथैकानेकात्मकत्वसिद्धेः। संशयादीनां प्रमेयत्वे च व्यवस्थानानुपपत्तेः। विपर्ययानध्यवसाययोः प्रमाणादिषोडश-पदार्थेभ्योऽर्थान्तरभूतयोः प्रतीतेश्च न षोडशपदार्थव्यवस्था।

८. तथैवं नैयायिकवैशेषिकसिद्धान्तस्य दृष्टेष्टविरुद्धत्वे सिद्धे चतुर्विधवर्णाश्रमवत् तदविधेय-विविधाचारपुण्यपाप-परलोकबन्ध-मोक्षतत्कारणतत्फल-बद्धमुक्तादिस्वरूपप्रतिपादकोऽपि यौगागमो न प्रमाणम्, दृष्टेष्टविरुद्धागमाभिन्नस्य तस्यातीन्द्रियेषु तत्कारणेषु च प्रामाण्यसंभावनानुपपत्तेरिति न तेषां धर्मानुष्ठानं प्रतिष्ठामियर्ति। किं वा बहुभिरालापैः औलूक्यैः तार्किकैश्च लौकिकं वैदिकं वा यत्किंचिदुच्यते तत्सर्वं मृषैव तदभिमतसर्वतत्त्वानां संसर्गासंभवेन शून्यत्वस्यापादितत्वादित्यलमतिप्रपञ्चेन, दृष्टेष्ट-विरुद्धत्वान्नैयायिक-वैशेषिकमतयोरसत्यत्वसिद्धत्वात्।

दृष्टेष्विष्टेषु दृष्टेष्टविरोधाद्यौगसंमतः।
परोक्षेषु तदेकत्वादागमो न प्रमाणताम्॥

---

७. और इन नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत सोलह पदार्थों में इन्द्रिय, बुद्धि और मन का अर्थ की प्राप्ति में साधकपना होने से इनके मत से ही प्रमाणता आती है। किन्तु इन इन्द्रिय आदि का प्रमेयों में अन्तर्भाव नहीं हो पाता है। यदि हो जावे तो एक-अनेकात्मक प्रमेयत्व की सिद्धि हो जायेगी। तथा संशय आदि को भी प्रमाण का विषय मानने पर कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। विपर्यय तथा अनध्यवसाय प्रमाण आदि सोलह पदार्थों से भिन्न हैं, इन दोनों का ज्ञान नहीं होने से सोलह पदार्थों की व्यवस्था नहीं बन सकती है।

८. उसी प्रकार से ही नैयायिक, वैशेषिक सिद्धान्त की दृष्ट-इष्ट प्रमाण से विरोध सिद्ध हो जाने पर चार प्रकार के श्रम की तरह उसमें कहे गये अनेक आचरण, पुण्य, पाप, परलोक, बन्ध, मोक्ष, बन्ध -मोक्ष के कारण, बन्ध-मोक्ष के फल, बद्ध, मुक्त आदि का स्वरूप बतलाने वाला यौगों का आगम भी प्रमाण नहीं है। चूँकि वह आगम दृष्टेष्ट विरोध से सहित है, इसलिए अतीन्द्रिय परलोक आदि और उनके कारणों में प्रामाण्य की संभावना नहीं रह जाती है, इसलिए उनका धर्म अनुष्ठान प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता है। बहुत कहने से क्या ? औलूक्य अर्थात् वैशेषिक शासन तथा तार्किकों का नैयायिक शासन, लौकिक तथा वैदिक जो कुछ भी अनुष्ठान कहता है यह सब कुछ झूठ ही है।

उनके द्वारा मान्य सभी तत्त्वों का समवाय सम्बन्ध नहीं होने से शून्यता की प्राप्ति होती है। इतना ही विस्तार पर्याप्त है क्योंकि दृष्ट-इष्ट विरुद्ध होने से नैयायिक और वैशेषिक दोनों मत असत्य सिद्ध हो गये हैं।

''प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के योग्य पदार्थों में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से विरोध आता है तथा परोक्ष पदार्थों में उन्हीं प्रमाणों का एकत्वपना होने से यौगसम्मत आगम प्रमाणता को प्राप्त नहीं होता है। ''

संसर्गहानेः सर्वार्थहानेर्यौगवचोऽखिलम्।
भवेत्प्रलापमात्रत्वान्नावधेयं विपश्चिताम्॥
दृष्टेष्टाभ्यां विरुद्धत्वान्न सत्यं यौगशासनम्।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्येति निश्चितम्॥

[इति नैयायिकशासन-परीक्षा]

''सम्बन्ध की हानि से सभी पदार्थों की हानि होती है, जिससे यौगों (नैयायिकों) के समस्त वचन प्रलापमात्र हैं। अतः विद्वानों को उन्हें अवधारण नहीं करना चाहिए।''

''प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से विरुद्धपना आने से यौगशासन सत्य नहीं है, इस शासन से स्याद्वाद शासन को कोई आघात नहीं पहुँचता है। यह निश्चित है।

[इति नैयायिकशासन-परीक्षा]

१०.
मीमांसक-भाट्टप्राभाकरशासन-परीक्षा

[पूर्वपक्षः]

१. अथ मीमांसकमतमपि दृष्टेष्टविरुद्धम्। मीमांसकेषु तावदेवं भाट्टा भणन्ति–''पृथिव्यप्तेजोवायुदिक्कालाकाशात्ममनःशब्दतमांसि'' इत्येकादशैव पदार्थाः, तदाश्रितगुणकर्मसामान्यादीनां तत्स्वभावत्वेन तादात्म्यसंभवान्न पदार्थान्तरमित्येवं पदार्थयाथात्म्यज्ञानात् कर्मक्षयो भवतीति।

२. प्राभाकरास्तु–

''द्रव्यं गुणः क्रियाजातिसंख्यासादृश्यशक्तयः।
समवायः क्रमश्चेति नव स्युर्गुरुदर्शने॥''

इति

तत्र द्रव्या [णि पृथिव्यादयः,] गुणा रूपादयः क्रिया उत्क्षेपणादि। जातिः सत्ता द्रव्यत्वादि। संख्या एकत्वद्वित्वादिः। सादृश्यं गोप्रतियोगिकं गवयगतमन्यत्, गवयप्रतियोगिकं गोगतं सादृश्यमन्यत्। शक्तिः सामर्थ्यम्, सा अनुमेयैव। गुणगुण्यादीनां सम्बन्धः समवायः। एकस्य निष्पादनानन्तरमन्यस्य निष्पादनं क्रमः, प्रथमाहुत्यादिपूर्णाहुतिपर्यन्तम्। इत्येवं नवैव पदार्थाः। एतेषां याथात्म्यज्ञानान्निःश्रेयससिद्धिरित्याचक्षते।

---

१०. मीमांसक-भाट्ट-प्राभाकर-शासन-परीक्षा

[पूर्वपक्ष]

१. प्रतिज्ञा–अब मीमांसक मत भी दृष्ट, इष्ट विरुद्ध है। मीमांसकों में भाट्ट लोग इस प्रकार कहते हैं–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, दिशा, काल, आकाश, आत्मा, मन, शब्द और तम ये ग्यारह पदार्थ हैं। उन पदार्थों के आश्रित गुण, कर्म, सामान्य आदि का उक्त पदार्थों के साथ यथायोग्य तादात्म्य-सम्बन्ध संभव होने से वे गुण आदि पदार्थ के स्वभाव ही हैं और पदार्थान्तर (अन्य पदार्थ) नहीं हैं, इस प्रकार पदार्थ का याथात्म्यज्ञान होने से कर्म का क्षय होता है।

२. इन्हीं मीमांसकों में प्राभाकर (प्रभाकर को मानने वाले) कहते हैं–''द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति, संख्या, सादृश्य, शक्तियाँ, समवाय और क्रम, ये नौ पदार्थ गुरुदर्शन अर्थात् भट्टप्रभाकर के मत में कहे गये हैं।''

उसमें पृथ्वी आदि द्रव्य हैं। रूप आदि गुण हैं। उत्क्षेपण आदि क्रिया हैं। द्रव्यत्व आदि सत्ता जाति हैं। एकत्व, द्वित्व आदि संख्या है। गाय के समानरूप धारण करने वाला सादृश्य बैल में जाने पर अन्य है और बैल के समानरूप वाले गाय में गया सादृश्य अन्य है।

३. किं च, वेदमधीत्य तदर्थं ज्ञात्वा तदुक्तनित्यनैमित्तिककाम्यनिषिद्धानुष्ठानक्रमं निश्चित्य तत्र विहितानुष्ठाने यः प्रवर्तते तस्य स्वर्गापवर्गसिद्धिर्भवति। त्रिकालसंध्योपासनजपदेवर्षिपितृतर्पणादिकं नित्यानुष्ठानम्। दर्शपौर्णमासग्रहणादिषु क्रियमाणनैमित्तकानुष्ठानम्। तद्द्वयमपि नियमेन कर्तव्यम्। कुतः,

''अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते।''

इति वचनात्।

पुत्रकाम्येष्ट्यादिकमैहिकं काम्यानुष्ठानम्। ज्योतिष्टोमादिकमामुत्रिकं काम्यानुष्ठानम्। ''श्येनाभिचरन् यजेत्'' इत्यादिकं निषिद्धानुष्ठानम्। तत्क्रमं निश्चित्य तेष्वनुष्ठानेषु विहितानुष्ठाने यः प्रवर्तते स स्वर्गापवर्गौ प्राप्नोति।

४. अपि च–

''न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥''

इति वचनात्।

मुमुक्षूणां प्रव्रज्यया भवितव्यमिति नियमो नास्ति।

शक्ति का नाम सामर्थ्य है। वह अनुमान के योग्य ही है। गुण-गुणी आदि का सम्बन्ध समवाय है। एक के पूर्ण हो जाने के बाद अन्य का निष्पादन क्रम है जो कि प्रथम आहुति आदि से पूर्ण आहुति पर्यन्त होता है। इस प्रकार नौ ही पदार्थ हैं। इन सभी पदार्थों के याथात्म्य ज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि होती है, ऐसा कहते हैं।

३. तथा वेद का अध्ययन करके उसके अर्थ को जानकर वेद में कहे हुए नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध अनुष्ठान के क्रम को निश्चित करके वेदविहित अनुष्ठान में जो प्रवृत्ति करता है उसको स्वर्ग-अपवर्ग की सिद्धि होती है। त्रिकाल संध्या-उपासना, जप, देव-ऋषि तथा पितरों का तर्पण आदि कार्य नित्य अनुष्ठान हैं। अमावस्या, पूर्णमासी, ग्रहण आदि के दिनों में किया जाने वाला कार्य नैमित्तिक अनुष्ठान है। ये दोनों अनुष्ठान भी नियम से करना चाहिए। कैसे–

''कहे हुए कर्म को नहीं करने वाला पाप से लिप्त हो जाता है।'' इन वचनों से नित्य-नैमित्तिक कर्म करने का विधान किया गया है।

पुत्र की इच्छा, अभिलषित की प्राप्ति आदि कर्तव्य ऐहिक काम्य अनुष्ठान हैं। ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करना पारलौकिक काम्य अनुष्ठान हैं। ''बाज से अभिचार करता हुआ पूजा करे'' इत्यादि कर्त्तव्य निषिद्ध अनुष्ठान हैं। इनका क्रम निश्चित करके उन अनुष्ठानों में से विधेय अनुष्ठानों में ही जो प्रवृत्ति करता है वह स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करता है।

४. और भी कहा है–''न्याय से धन अर्जन करने वाला, तत्त्वज्ञान में निष्ठ, अतिथि की पूजा करने वाला, श्राद्ध करने वाला और सत्यवादी गृहस्थ होकर भी मुक्त हो जाता है।''

मुमुक्षुओं को प्रव्रज्या से रहना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है।

५. तत्रापि–

''मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया॥''

[गी॰ श्लो॰ सम्बन्ध॰ श्लो॰ ११०] इति भाट्टाः।

प्रत्यवायपरिहारकामेन नित्यनैमित्तकानुष्ठानयोः प्रवर्तनात्। तयोरपि काम्यानुष्ठानकुक्षौ निक्षेपात् तत्करणमपि मोक्षकांक्षिणाऽनवधीयते इति प्राभाकराः प्रत्यूचिरे।

[उत्तरपक्षः]

६. तदेतन्मीमांसकमतं तावद् दृष्टविरुद्धम्, मीमांसकाख्यैर्भाट्टैः प्राभाकरैश्च पृथिव्यादयोऽर्थाः सत्तादिसामान्यतोऽनुव्यज्यन्ते। तच्च सत्तादिसामान्यं सर्वथा नित्यं निरवयवमेकं व्यापकमिति तैरभिमतम्; तत्तु प्रत्यक्षविरुद्धमेव, सदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्यानित्यस्यासर्वगतस्य रूपादिवदनेकव्यक्तात्म-तयाऽनेक-रूपस्यैव प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकं प्रत्यक्षतः स्थूणादौ वंशादिवत् प्रतीयते; व्यक्तेरुत्पादविनाशेऽपि अनुत्पादमविनाशं वा यतस्तत्प्रत्यक्षं स्यात्। तदिदं परोदितस्वरूपं सामान्यं प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं न समर्थयति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छतीत्यमूलदानक्रयित्वात् सतामुपहासास्पदमेव स्यात्।

---

५. उसमें भी भाट्ट ऐसा मानते हैं कि–''उन अनुष्ठानों में काम्य और निषिद्ध अनुष्ठानों में मोक्षार्थी प्रवृत्ति न करे। पाप को छोड़ने कि इच्छा से मुमुक्षु नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान ही करे।''

क्योंकि पाप से जो मुक्त होना चाहता है उसके लिए नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठानों में प्रवृत्ति करने का नियम है। किन्तु प्राभाकर लोग मानते हैं कि नित्य, नैमित्तिक अनुष्ठान भी काम्य अनुष्ठान की कुक्षि (पेट) में चले जाते हैं इसलिए नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान करना भी मोक्ष के आकांक्षी को नहीं कहा है।

[उत्तरपक्ष]

६. पहले तो यह मीमांसक मत दृष्ट विरुद्ध है क्योंकि मीमांसक मत को मानने वाले भाट्ट और प्राभाकर पृथ्वी आदि पदार्थ सत्ता आदि सामान्य के द्वारा प्रकट करते हैं। उन लोगों ने माना है कि सत्ता आदि सामान्य सर्वथा नित्य है, निरवयव है, एक है और व्यापक है। वह सत्ता सामान्य विषयक कथन प्रत्यक्ष से विरुद्ध ही है क्योंकि सामान्य सदृश परिणाम लक्षण वाला है, अनित्य है, अव्यापक है। उस सामान्य की रूप आदि के समान अनेक प्रकार से व्यक्तात्मता (प्रकट होने का स्वभाव) होने से अनेक रूप की ही प्रत्यक्ष से प्रतीति होती है। वह सामान्य स्थूणापना (खूँटी) आदि में बाँस (लकड़ी) के समान प्रत्यक्ष से भिन्न देश वाले व्यक्तियों में (प्रति पदार्थ में) एक ही प्रतीति में नहीं आता है। व्यक्ति के उत्पाद, विनाश होने पर भी सामान्य का उत्पाद और विनाश नहीं होता है जिससे कि सामान्य प्रत्यक्ष होवे। ऐसा यह मीमांसकों के द्वारा कहा गया सामान्य प्रत्यक्ष बुद्धि में स्वयं का समर्थन नहीं करता है। और कोई प्रत्यक्षता को स्वीकारने की इच्छा करता है तो वह बिना मूल्य दिये खरीदने वाले की तरह सज्जनों के लिए हास्यास्पद है।

७. तथापि यदि याज्ञिका वैयात्यात् तथैवेति विवदन्ते, तर्हि तत्र ब्रूमः; एकत्र व्यक्तौ सर्वात्मना वर्तमानस्य अन्यत्र वृत्तिर्न स्यात्। तत्र हि वृत्तिः तद्देशे गमनात्, पिण्डेन सहोत्पादात्, तद्देशे सद्भावात् अंशवत्तया वा स्यात्, न तावद् गमनादन्यत्र पिण्डे तस्य वृत्तिः, निष्क्रियत्वोपगमात्। किं च पूर्वपिण्डपरित्यागेन तत्तत्र गच्छेत्, अपरित्यागेन वा, न तावत् परित्यागेन, प्राक्तनपिण्डस्य गोत्वपरित्यक्तस्य अगोरूपताप्रसंगात्, नाप्यपरित्यागेन, अपरित्यक्तपिण्डस्यास्यानंशरूपादेरिव गमनासंभवात्। न ह्यपरित्यक्त-पूर्वाधाराणां रूपादीनामाधारान्तरसंक्रान्तिर्दृष्टा। नापि पिण्डे [न] सहोत्पादात्, तस्यानित्यतानुषंगात्। नापि तद्देशे सत्त्वात्; पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तत्र निराधारस्यास्याव्यवस्थानाभावात्, भावे वा स्वाश्रयमात्रवृत्तित्वविरोधः। नाप्यंशवत्तया; निरंशत्वप्रतिज्ञानात्। ततो व्यक्त्यन्तरे सामान्यस्याभावानुषंगः।

८. परेषां प्रयोगः–ये यत्र नोत्पन्ना नापि प्रागवस्थायिनो नापि पश्चादन्यतो देशादागतमन्तः ते तत्रासन्तो, यथा खरोत्तमाङ्गे तद्विषाणम्, तथा च सामान्यं तच्छून्यदेशोत्पादवति घटादिके वस्तुनीति। तदुक्तम्–

---

७. फिर भी यदि याज्ञिक (यज्ञ करने वाले) अपनी हठ से वैसा ही है इस प्रकार विवाद करते हैं तो हम कहते हैं–एक साथ व्यक्ति में सर्वात्मना वर्तमान सामान्य की अन्य में वृत्ति नहीं हो सकती है। वहाँ अन्य में वृत्ति उस स्थान में जाने से होगी, कि पिण्ड के साथ उत्पन्न होने से होगी, कि उस देश (स्थान) में समवाय के सद्भाव से होगी अथवा अंशवत्ता होने से होगी। इसमें गमन से तो वृत्ति (समवाय सम्बन्ध) अन्यत्र पिण्ड में सामान्य की हो नहीं सकती है क्योंकि सामान्य को आपने निष्क्रिय स्वीकारा है। दूसरी बात वह समवाय पूर्वपिण्ड का परित्याग करके वहाँ जाता है अथवा बिना त्याग किए जाता है। वह परित्याग करके तो जा नहीं सकता क्योंकि पहले के पिण्ड में गोत्व सामान्य का परित्याग हो जाने से उसके गो रहितपने का प्रसंग आ जायेगा। वह सामान्य का परित्याग किए बिना भी अन्यत्र नहीं जा सकता है क्योंकि जिसने पिण्ड को छोड़ा नहीं है ऐसे सामान्य का अनंश रूप (पूर्ण घट आदि का रूप) की तरह गमन करना संभव नहीं है। तथा पहले के आधार को छोड़े बिना रूप आदि अन्य आधार में संक्रान्त (परिवर्तित) हो जावें ऐसा देखा नहीं जाता है। वह सामान्य पिण्ड के साथ भी उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि ऐसा मानने पर सामान्य की अनित्यता का दोष आयेगा। वह उस देश में भी नहीं है क्योंकि उसका सत्त्व सर्वत्र है, ऐसा मानते हो तो पिण्ड की उत्पत्ति से पहले इस निराधार सामान्य का वहाँ अन्यत्र स्थान में अवस्थान का अभाव होगा। अथवा सद्भाव मानने पर स्वाश्रय मात्र में वृत्ति सामान्य की होती है, इस बात से विरोध आयेगा। वह अंशरूप से भी वहाँ नहीं रहता है क्योंकि आपकी प्रतिज्ञा है कि सामान्य निरंश है। इसलिए अन्य व्यक्ति में उस सामान्य का अभाव ही सिद्ध होता है।

८. उन मीमांसाकों का अनुमान प्रयोग इस प्रकार है–जो जहाँ उत्पन्न नहीं हुए हैं, जो पहले से अवस्थित भी नहीं हैं, जो बाद में नहीं होते हैं और न ही अन्य देश से आते हैं, वे पदार्थ वहाँ नहीं होते हैं, असत् होते हैं, जैसे कि गधे के शिर पर उसके सींग, उसी तरह सामान्य उस शून्य देश में उत्पन्न होनेवाले घट आदि वस्तु में चला जाता है। कहा भी है–

''न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वमाधारमहो व्यसनसंततिः''

इति

९. नन्वेष दोषो भेदवादिनामेव न तु मीमांसकानाम्, तैः सामान्यव्यक्त्योस्तादात्म्याङ्गीकरणात्।

''तादात्म्यमस्य कस्माच्चेत् स्वभावादिति गम्यताम्।''

[मी॰ श्लो॰ आकृति. श्लो॰ ४७]

इत्यभिधानादिति चेत्, तेषां व्यक्तिवत्तस्यासाधारणसाधारणरूपत्वानुषंगात्। व्यक्त्युत्पादविनाश-योश्चास्यापि तद्योगित्वप्रसंगात्।

१०. न सामान्यरूपता वा साधारणरूपत्वम्; उत्पादविनाशयोगित्वं चास्य नाभ्युपगम्यते तर्हि विरुद्धधर्माध्यासतो व्यक्तिभ्योऽस्य भेदः स्यात्। उक्तं च–

''तादात्म्यं चेन्मतं जातेर्व्यक्तिजन्मन्यजातता।
नाशोऽनाशश्च केनेष्टस्तद्वच्चानन्वयो न किम्॥
व्यक्तिजन्मन्यजाता चेदागता नाश्रयान्तरात्।
प्रागासीन्न च तद्देशे सा तथा संगता कथम्॥

''न जाता है, न वहाँ था, न बाद में है और अंश की तरह पूर्व के आधार को नहीं छोड़ता है। अहो! यही व्यसन की परम्परा है।''

९. यदि कहो कि यह दोष तो भेदवादियों को ही है, मीमांसाकों को नहीं क्योंकि उन मीमांसकों के द्वारा सामान्य और व्यक्ति दोनों में तादात्म्य स्वीकार किया गया है। मीमांसकों ने कहा भी है–''इसका तादात्म्य कैसे है ? तो स्वभाव से ही जानना चाहिए।'' तो उन मीमांसकों को व्यक्ति की तरह उस सामान्य का असाधारण और साधारण रूप से अनुषंग (सम्बन्ध) रहेगा। तथा व्यक्ति के उत्पाद और विनाश दोनों में उस सामान्य का भी उसके साथ जोड़ (मेल) होने का प्रसंग आयेगा।

१०. सामान्य में सामान्य रूपता अथवा साधारण रूपता नहीं है क्योंकि उत्पाद-विनाश के साथ योग होना भी उस सामान्य का स्वीकार नहीं किया जाता है तो फिर विरुद्ध धर्म के मिथ्या आरोप से व्यक्तियों के द्वारा उस सामान्य का भेद होगा। कहा भी है–

''यदि आप जाति (सामान्य) का तादात्म्य मानते हैं तो व्यक्ति (विशिष्ट पर्याय) की उत्पत्ति में वह सामान्यपना नहीं होगा। यह बतलाइये कि वह जाति उसके साथ नाश हो गई या नहीं हुई? आपको क्या इष्ट है? यदि नाश हो गई तो वह भी व्यक्त के समान हो गई और यदि नाश नहीं हुई तो अन्वयरहित हो जाने से क्या प्रयोजन?

यदि व्यक्ति की उत्पत्ति में वह सामान्य जाति नहीं उत्पन्न हुई और अन्य आश्रय वाली है नहीं यदि जातिरूप सामान्य आ गया तो जो पहले नहीं था वह उस स्थान में आ गया, यह वही जाति है यह कैसे संगत हो?

व्यक्तिनाशे न चेन्नष्टा गताव्यक्त्यन्तरं न च।
तच्छून्ये न स्थिता देशे सा जातिः क्वेति कथ्यताम्॥
व्यक्तेर्जात्यादियोगेऽपि यदि जातेः स नेष्यते।
तादात्म्यं कथमिष्टं स्यादनुपप्लुतचेतसाम्॥''
[हेतुबि. टी. पृ॰ ३२]

इत्येवमनेकदोषदुष्टत्वात् याज्ञिकानुज्ञातसामान्यं खरविषाण-वदसदेव स्यात्।

११. यत्तु तत्सद्भावसाधनमुक्तं परैः-

''पिण्डभेदेषु गोबुद्धिरेकगोत्वनिबन्धना।
गवाभास्येकरूपाभ्यामेकगोपिण्डबुद्धिवत्॥''
[मी॰ श्लो॰ वन. श्लो॰ ४४]

''न शाबलेयाद् गोबुद्धिस्ततोऽन्यालम्बनापि वा।
तदभावेऽपि सद्भावाद् घटे पार्थिवबुद्धिवत्॥''
[मी॰ श्लो॰ वन. श्लो॰ ४]

व्यक्ति (उत्पन्न हुई किसी पर्याय विशेष) के नाश हो जाने पर यदि वह जाति (सामान्य धर्म) नष्ट नहीं हुई और फिर किसी अन्य व्यक्ति में नहीं पहुँची तो उस जाति से शून्य होने पर वह व्यक्ति भी उस स्थान में स्थित नहीं हुई, फिर वह जाति कहाँ गई यह बताना चाहिए?

व्यक्ति के जाति आदि के साथ योग (मेल) होने पर भी यदि जाति का वह नाश इष्ट नहीं है तो ऐसे अनुपप्लुतचित्त वालों को तादात्म्य कैसे इष्ट होवे?

इस प्रकार अनेक दोषों से दुष्टपना आ जाने से याज्ञिकों के द्वारा माना गया सामान्य खरविषाण के समान असत् ही है।

११. जो यह है तो मीमांसकों ने सामान्य के साधक दो अनुमान कहे हैं।

१. जिस प्रकार एक व्यक्ति में ''अयं गौः'' इस प्रकार का ज्ञान गोत्वमूलक होता है, क्योंकि वह ज्ञान गो का अवभास स्वरूप है, उसी प्रकार अन्य गोपिण्डों में भी जो ''अयमपि गौः'' इस आकार के अवभास (ज्ञान) उत्पन्न होते हैं, वे सभी ज्ञान उक्त गोत्व सामान्यमूलक ही हैं।

अथवा जिस प्रकार एक गोपिण्ड में विशेष्यता सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाली ''अयं गौः'' इस आकार की बुद्धि गोत्वजन्य है, क्योंकि गोत्वस्वरूप एकधर्मक है, उसी प्रकार बाहुलेयादि सभी अन्य गो व्यक्तियों में उत्पन्न होने वाली ''अयमपि गौः'' इस आकार की गो बुद्धि भी गोत्वविषयक ही है, क्योंकि सभी प्रकार की गोबुद्धियाँ एक ही आकार की हैं। (मी॰ श्लो॰ वा॰ श्लो॰ ४४)।

२. शाबलेय गो व्यक्ति में जो ''अयं गौः'' इस आकार की प्रतीति होती है, वह शाबलेय गोव्यक्ति मूलक नहीं है, क्योंकि शाबलेय गो के न रहने पर भी बाहुलेय गोव्यक्ति में ''अयमपि गौः'' इस समान आकार की प्रतीति होती है। फलतः वह उक्त गोत्व जातिमूलक ही है। जैसे कि पटस्वरूप

इत्यादि; तत्सर्वं सिद्धसाधनम्; अनुवृत्तप्रत्ययस्य सदृशपरिणाम-लक्षणसामान्यालम्बनत्वसिद्धेः।

१२. न हि वयं बौद्धवत् सामान्यस्यापह्नवोतारः; केवलं परपरिकल्पितसर्वथानित्यत्वादि-विशेषणविशिष्टमेव सामान्यं न मृष्यामहे। सर्वथा नित्यस्यैकस्यानष्टस्य सर्वगतस्य विचार्यमाणस्या-संभवात्।

१३. "नित्यं सदादि सामान्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, शब्दवत्" इति चेत्, न; हेतो विरुद्धत्वात्। कथंचिन्नित्यस्य इष्टविरुद्धस्य साधनात्। सर्वथा नित्यस्य प्रत्यभिज्ञानायोगात्। तदेवेदमिति पूर्वोत्तरपर्याय-व्यापिनैकत्र प्रत्ययस्योपपत्तेः पौर्वापर्यरहितस्य पूर्वापरप्रत्ययविषयत्वासंभवात्।

१४. धर्मावेव पूर्वापरभूतौ न धर्मिसामान्यमिति चेत्, कथं तदेवेदमित्यभेदप्रतीतिः, पूर्वापर-स्वरूपयोरतीतवर्तमानयोः तदित्यतीतपरामर्शिना स्मरणेन इदमिति वर्तमानोल्लेखिना प्रत्यक्षेण च विषयी-क्रियमाणयोः परस्परं भेदात्।

पार्थिव द्रव्य के न रहने पर भी "घटः पार्थिवः" इस आकार की प्रतीति होती है। (मी० श्लो० वन. श्लो० ४)।

अथवा जिस प्रकार "घटः पार्थिवः" यह ज्ञान पार्थिवत्व से भिन्न किसी भी व्यक्तिमूलक नहीं है, क्योंकि घट के न रहने पर भी "पटः पार्थिवः" इत्यादि बुद्धियों में पार्थिवत्व की संज्ञा बनी रहती है, उसी प्रकार शाबलेय गो में "अयः गौः" इस आकार की प्रतीति गोत्वान्यविषयक नहीं है, क्योंकि शाबलेय गो के न रहने पर भी बाहुलेय गो में "अयं गौः" इस आकार की प्रतीति होती है। इत्यादि जो कहा है वह सब सिद्धसाधन है, क्योंकि अनुवृत्त प्रत्यय की सदृश परिणाम लक्षण वाले सामान्य के आलम्बनपने से सिद्धि होती है।

१२. हम लोग बौद्धों की तरह सामान्य का अभाव मानने वाले नहीं हैं। हम मीमांसक लोग तो केवल दूसरों के द्वारा कल्पित सर्वथा, नित्यत्व आदि विशेषणों से विशिष्ट सामान्य को ही नहीं मानते हैं, क्योंकि सर्वथा नित्य, एक, अविनाशी और सर्वगत सामान्य का विचार प्राप्त होना ही असम्भव है।

१३. नित्य सत् आदि सामान्य है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से जाना जाता है, जैसे शब्द, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि यह हेतु विरुद्ध दोष से युक्त है। कथंचित् नित्य पदार्थ ही इष्ट, विरुद्ध का साधन है। सर्वथा नित्य पदार्थ में प्रत्यभिज्ञान नहीं बन सकता है। "वह ही यह है" इस प्रकार पूर्वोत्तर व्यापी पर्याय के द्वारा एक साथ ही प्रत्यय (ज्ञान) की उत्पत्ति होती है। पूर्वापर रहित कूटस्थ नित्य पदार्थ में पूर्व-अपर ज्ञान का विषयपना ही संभव नहीं है।

१४. यदि कहो कि पूर्व-अपर स्वरूप तो धर्म होते है, धर्मी सामान्य नहीं, तो फिर कैसे "वह ही यह है", इस प्रकार अभेद की प्रतीति होगी ? पूर्व-अपर स्वरूप में एक अतीत को बताने वाला है और दूसरा वर्तमान को। इसमें 'तत्' इससे अतीत का परामर्श करने वाले स्मरण ज्ञान के साथ 'इदम्' इससे वर्तमान को देखने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय किया जाता है जिससे इन दोनों में (पूर्व-अपर) परस्पर भेद होता है।

१५. सदादिसामान्यादेकस्मात्तयोः कथंचिद्भेदाभेदप्रतिपत्तिरिति चेत्, सिद्धं तस्य कथंचिदनित्यत्वम्, अनित्यस्वधर्माव्यतिरेकात्। न ह्यनित्यादभिन्नं नित्यमेव युक्तम्, अनित्यस्वात्मवत् सर्वथानित्यस्य क्रमयौग-पद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्च। तदनित्यं सामान्यं विशेषादेशात् शब्दवत्। तत एवानेकं तद्वत्। सदित्यादि-स्वप्रत्ययाविशेषादेकं सत्तादिसामान्यमिति चेत्, न; सर्वथास्वप्रत्ययाविशेषस्यासिद्धत्वात् प्रतिपदादिव्यक्तिं सदित्यादिप्रत्ययस्य विशेषात्। तद्व्यक्तिविषयो विशेषप्रत्यय इति चेत्; तर्हि ता व्यक्तयः सामान्यात् सर्वथा यदि भिन्नाः प्रतिपद्यन्ते, तदा यौगमतप्रवेशो मीमांसकस्य, स चायुक्तः, तन्मते सम्बन्धस्य निरस्तत्वात्, तस्येति व्यपदेशानुपपत्तेः।

१६. अथ कथंचिदभिन्नाः, तदा सिद्धं सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वम्, विशेषप्रत्ययविषयेभ्यो विशेषेभ्यः कथंचिदभिन्नस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयतोपपत्तेः विशेषस्वात्मवत्। ततो नैकमेव सत्तादिसामान्यम्। नाप्यनंशम्; कथंचित् सांशत्वप्रतीतेः; सांशेभ्यो विशेषेभ्योऽनर्थान्तरभूतस्य सांशत्वोपपत्तेः तत्स्वात्मवत्। तथा सर्वगतं तत् सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेऽनुपलभ्यमानत्वात्। तत्राभिव्यक्तत्वात्तस्यानुपलम्भ

---

१५. सत् आदि एक सामान्य से ही पूर्वापर में कथंचित् भेद-अभेद का ज्ञान हो जाता है, यदि ऐसा कहते हो तो उस सामान्य का कथंचित् अनित्यत्व सिद्ध है क्योंकि अनित्य रूप अपने धर्म से अभेद होता है। अनित्य से अभिन्नरूप नित्य ही मानना युक्त नहीं है।

अनित्य स्वात्मा के समान सर्वथा अनित्य धर्म की क्रम और यौगपद्य के द्वारा अर्थक्रिया करने से विरोध आता है। विशेष के कथन से वह अनित्य सामान्य है जैसे शब्द। इसलिए ही अनेक है जैसे कि अनित्य स्वात्मा। यदि कहो कि वह सत् इत्यादि अपने कारण की अविशेषता से सत्ता आदि सामान्य एक है, सो भी नहीं है क्योंकि सर्वथा स्वप्रत्यय (अपने कारण) की अविशेषता (सामान्य) की सिद्धि नहीं होती है। ऐसा देखा जाता है कि प्रत्येक पद आदि की जो व्यक्ति होती है वह सत् इत्यादि प्रत्यय की विशेषता से ही होती है। यदि यह कहो कि उस व्यक्ति विशेष वाला वह विशेष (अलग) प्रत्यय है तो फिर वे व्यक्तियाँ सामान्य से यदि सर्वथा भिन्न प्राप्त होती हैं, तब तो मीमांसकमत का यौगमत में प्रवेश हो जाता है। और वह न्यायपूर्ण नहीं है। यौगमत में समवाय (सम्बन्ध) का खण्डन किया जा चुका है, उस समवाय का इस प्रकार व्यपदेश (नाम) नहीं सिद्ध होता है।

१६. यदि वे व्यक्तियाँ सामान्य से कथंचित् अभिन्न (अभेद) हैं, ऐसा मानते हो तो सामान्य को विशेष प्रत्यय का विषयपना होना सिद्ध हो जाता है। विशेष प्रत्यय को विषय करने वाले विशेषों से कथंचित् अभेदरूप सामान्य को विशेष प्रत्यय की विषयता विशेष स्वात्मा की तरह सिद्ध होती है। इसलिए वह सत्ता आदि सामान्य एक ही नहीं है। और न ही वह सत्तादि सामान्य अंश रहित है, क्योंकि कथंचित् अंशसहितपने की प्रतीति होती है। अंशसहित विशेषों से उसी पदार्थ का अंशसहितपना सिद्ध होता है, सांशस्वात्मा की तरह।

इति चेत्; तत एव व्यक्तिस्वात्मनोऽपि तत्रानुपलम्भोऽस्तु। तत्र तस्य सद्भावादेकप्रमाणाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भ इति चेत्, सामान्यस्यापि विशेषभावादसत्त्वादेवानुपलम्भोऽस्तु, व्यक्त्यन्तराले तस्यापि सद्भावावेदक-प्रमाणाभावात्, प्रत्यक्षतस्तथाननुभवात्, खरविषाणादिवत्। न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकम्, यथा स्थूणादिषु वंशादिरिति प्रतीयते, यतो युगपदभिन्नदेशस्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वं तस्य सिद्ध्येत्, स्वाधारान्तराले अस्तित्वं साधयेदिति तदेवमनेकबाधकसद्भावात् भाट्टप्राभाकरैरिष्टं............

[भद्रं भूयात्]

उसी तरह वह सामान्य सर्वगत है, क्योंकि व्यक्तियों के अन्तराल में वह उपलब्ध नहीं होता है। यदि आप यह कहते हो कि उस अन्तराल में अभिव्यक्तपना होने से उस सामान्य की अनुपलब्धि है तो उसी कारण से ही व्यक्तिरूप स्वात्मा की भी उस अन्तराल में उपलब्धि नहीं होगी।

यदि कहो कि उस अन्तराल में उस सामान्य के सद्भाव को कहने वाले प्रमाण का अभाव होने से असत्व होता है, जिससे उसकी उपलब्धि नहीं है तो फिर उस सामान्य का भी विशेषभाव से असत्त्व होने से अनुपलब्धि ही होवे क्योंकि व्यक्तियों के अन्तराल में सामान्य के भी सद्भाव कहने वाले प्रमाण का अभाव है।

प्रत्यक्ष से उस सामान्य का इस तरह कुछ अनुभव नहीं होने से वह गधे के सींग की तरह है। भिन्न-भिन्न स्थानों की व्यक्तियों में सामान्य एक एक ही नहीं रहता है, जिस प्रकार स्थूण आदि में बांस आदि है। इस प्रकार प्रतीत होता है। जिससे कि एक साथ अभिन्न देश में स्व आधार से वृत्ति होने पर उसका एकत्व सिद्ध हो जावे। स्व आधार के अन्तराल में अस्तित्व साधना चाहिए। इस प्रकार वह अनेक इसी प्रकार के बाधक कारणों का सद्भाव रखता है। जिससे भाट्ट प्राभाकरों को इष्ट........उनका सामान्य दृष्ट, इष्ट विरोध से अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

❑ ❑ ❑

परिशिष्ट १
सत्यशासन-परीक्षा की मूल कारिकाओं की अनुक्रमणिका

कारिका

परिशिष्ट २
उद्धृत वाक्य-सूची

❑ ❑ ❑

परिशिष्ट ३
ग्रन्थगत विशिष्ट शब्द

परिशिष्ट ४
जैनन्यायदर्शन के ग्रन्थों की संक्षिप्त नामावली

	ग्रन्थ	कर्त्ता
१.	न्यायकुमुदचन्द्रोदय	प्रभाचन्द्राचार्य
२.	न्यायविनिश्चयालंकार	बृहदन्ताचार्य
३.	न्यायविनिश्चयालंकार	अनन्तवीर्य
४.	न्यायदीपिका	भावसेनाचार्य
५.	न्यायकलिकासूत्र	–
६.	न्यायमणिदीपिका	अजितसेनाचार्य
७.	न्यायचूलिका	अकलंकदेव
८.	लघुत्रयी	अकलंकदेव
९.	वृद्धत्रयी	अकलंकदेव
१०.	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड	अकलंकदेव
११.	प्रमेयरत्नमालाप्रकाशिका	पंडिताचार्य
१२.	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुख टीका)	अजितसेनाचार्य
१३.	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड टिप्पण	श्लोक २०००
१४.	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड टिप्पण	श्लोक ५०००
१५.	प्रमेकमलमार्त्तण्ड	प्रभाचन्द्राचार्य
१६.	प्रमेयचन्द्रिका (परीक्षामुख टीका)	अनन्तवीर्य
१७.	प्रमेयरत्नमाला	अनन्तवीर्य
१८.	प्रमेयरत्नालंकार	पण्डिताचार्य
१९.	प्रमेयरत्नकण्ठिका	शान्तिसेनाचार्य
२०.	प्रमेयतत्त्वबोध	श्रीनिवास
२१.	तर्कप्रकाश	–
२२.	तर्कभाष्य	–
२३.	तर्कपरीक्षाभाष्य	चनैयाभट्ट
२४.	तर्कदीपिका	वादीभसिंह
२५.	तर्कामृत	आशाधर

२६.	न्यायामृत	आशाधर
२७.	परीक्षामुख लघुटीका	प्रभाचन्द्राचार्य
२८.	लघुत्रयीन्याय	अभयचन्द्र
२९.	न्यायदीपिका	धर्मभूषणाचार्य
३०.	प्रमाणविस्तार	धर्मभूषणाचार्य
३१.	नयचक्र	धर्मसागर
३२.	नवपदार्थ	धर्मसागर
३३.	प्रमाणप्रमेयकलिका	नरेन्द्रसेन
३४.	अर्थप्रकाश	प्रभाचन्द्राचार्य
३५.	वादिकौशिकमार्त्तण्ड	प्रभाचन्द्राचार्य
३६.	प्रमाणदीपक	प्रभाचन्द्राचार्य
३७.	प्रमितिवाद	देवसंघीयप्रभादेव
३८.	अव्याप्तिवाद	देवसंघीयप्रभादेव
३९.	न्यायवाद	देवसंघीयप्रभादेव
४०.	युक्तिवाद	देवसंघीयप्रभादेव
४१.	तर्कवाद	देवसंघीयप्रभादेव
४२.	सिद्धान्तसारन्याय	भावसेनाचार्य
४३.	विश्वतत्त्वप्रकाशिका	भावसेनाचाय
४४.	स्याद्वादमञ्जरी	मल्लिसेनाचार्य
४५.	पदार्थसार	माघनन्दी
४६.	परीक्षामुख	माणिक्यनन्दी
४७.	रत्नाकरावतारिका	रत्नप्रभाचार्य
४८.	तत्त्वविनिश्चय	वर्धमानभट्टारक

सुवण्णिमसंजमोच्छववरिसे आइरिय विज्जासायर पसत्थिपत्तं

श्री-मूल-संघे स्वसमाधिमुख्ये श्री कुन्दकुन्दान्वय उत्तमेस्मिन्।
श्री शान्तिसिन्धु-र्भुवि भव्यबन्धु र्निरुद्धभट्टारक-राजपन्थ- ॥१॥

तत्पट्टेऽजनि वीरसागरसुधीः स्याद्वादरत्नाकरः
श्रीवीराधिपधर्म-केतुपवनः संसेव्यपादोत्पलः।
तत्पट्टेऽभवदागमार्थकुशलः सैद्धान्तिकस्तत्त्ववित्
श्रीमानाप्तपदद्वयस्य नितरां ध्याता शिवार्यो वरः ॥२॥

तस्य प्रथमः शिष्यो ज्ञानसागरश्चागमनेत्रो दिव्यः।
निस्पृहनिरीहचेता महाकविश्च जिनसेनसमः ॥३॥

विद्यार्णवस्तत्प्रथमोऽस्ति शिष्यो विख्यातनामा गुणिषु प्रमोदः।
दयाविशुद्धार्द्रमनो महार्यः सूरिप्रधानो महतां प्रसिद्धः ॥४॥

अंतिमतित्थयर देवाहिदेव-सव्वण्हु-वीयरायभयवंत-वड्ढमाण-महावीर-तित्थपरंपरागदजिणसासणे आइरियकुंदकुंदपवाहिदसमणपरंपराए दक्खिणदेसियचरित्तचक्क वट्टिआइरियसंतिसायरेहिं जीविदाए समण परंपराए आइरियवीरसायर-सिवसायर-णाणसायर-पमुहाइरिय वड्ढिदाए जयोदयादिमहाकव्व रयणाए कालिदाससरिसस्स आइरियपट्टपदाणविहिणा महाकविणिरीहदियंबरणाणसायराइसियस्स पट्टे विराजमाणो अइरिओ सिरिविज्जासायरो

जिसमें अपनी आत्मा की समाधि मुख्य है, ऐसे श्रेष्ठ मूलसंघ श्री कुन्दकुन्द आचार्य की परम्परा में, भव्य जीवों के बन्धु आचार्य श्री शान्तिसागर जी इस धरातल पर हुए हैं, जिन्होंने भट्टारकों के राजमार्ग को रोक दिया है ॥१॥

उनके पट्ट पर श्री वीरसागर आचार्य हुए जो स्याद्वाद रत्नाकर थे, जो वीर भगवान् की धर्मध्वजा को फहराने के लिए वायु के समान थे और जिनके चरण कमल सभी से सेवा के योग्य थे। उनके पट्ट पर फिर आगम के अर्थ में निपुण, सैद्धांतिक तत्त्व को जानने वाले, श्रीमान् जिनेन्द्रदेव के चरण युगल को सदा ध्याने वाले श्रेष्ठ आचार्य श्री शिवसागरजी हुए हैं, उनके पट्ट पर श्री वीरसागर आचार्य हुए, जो स्याद्वाद रत्नाकर थे, जो वीर भगवान् की धर्मध्वजा को फहराने के लिए वायु के समान थे और जिनके चरण कमल सभी से सेवा के योग्य थे। उनके पट्ट पर फिर आगम के अर्थ में निपुण, सैद्धांतिक तत्त्व को जानने वाले, श्रीमान् जिनेन्द्रदेव के चरण युगल को सदा ध्याने वाले श्रेष्ठ आचार्य श्री शिवसागरजी हुए हैं ॥२॥

उनके प्रथम शिष्य आचार्य ज्ञानसागरजी हुए हैं, जो दिव्य, आगमचक्षु, निस्पृह और निरीह चित्त के धारक थे और जो जिनसेन आचार्य के समान महाकवि थे ॥३॥

उन आचार्य ज्ञानसागर जी के प्रथम शिष्य श्री विद्यासागर मुनि हैं। जिनका नाम संसार में विख्यात है, जो गुणी जनों में प्रमोद भाव धारण करते हैं, जिनका मन दया की विशुद्धि से भीगा है, जो महा आर्य हैं, अर्थात् महापूज्य हैं, आचार्यों में प्रधान हैं और महान व्यक्तियों में प्रसिद्ध हैं ॥४॥

अंतिम तीर्थंकर देवाधिदेव सर्वज्ञ वीतराग भगवान वर्धमान महावीर की तीर्थ परंपरा में चले आ रहे जिनशासन में, आचार्य कुन्दकुन्ददेव से प्रवाहित श्रमण परम्परा में दक्षिणदेशीय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागरजी के द्वारा जीवित हुई एवं आचार्य वीरसगरजी, आचार्य शिवसागरजी, आचार्य ज्ञानसागरजी इन प्रमुख आचार्यों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुई, श्रमण परम्परा में जयोदय आदि महाकाव्य की रचना में कालिदास के समान महाकवि निरीह दिगम्बर

सोहमाणो अत्थि।

जस्स देहजम्मो कण्णाटपदेसे 'बेलगाँव' जणपदे सदलगागामे विक्क मसंवच्छरस्स बेसहस्सतिगतमे (वि.सं. २००३) अस्सिणमासस्स सुक्क पक्खे पुण्णिमाए (तदणु दिणंके १० अक्टूबर १९४६ ई० तमे) गुरुवासरे रत्तीए मल्लप्पाजणगस्स सिरिमंतिजणणीए गब्भादो 'अट्ठगे' कुले जादो।

राजट्ठाणपदेसस्स जयपुरणयरे खणियाजीखेत्ते विराजमाणेण आइरियदेसभूसणेण गिहीदबंभचेरवदो पुण मुणिणाणसायरेण विक्क मसंवच्छरस्स बेसहस्सपंचवीसतमे (वि० सं० २०२५) आसाढसुक्क पंचमीदिवसे (तदणु ३० जून १९६८ ई० तमे) सणिवासरे राजट्ठाणपदेसस्स अजमेरणयरे मुणिदिक्खाए दिक्खिदो। तदो विक्क मसंवच्छरस्स बेसहस्सएगुणतीसतमे (वि० सं० २०२९) मगसिरमासस्स किण्हपक्खे विदियाए (तदणु २२ नवम्बर १९७२ ई० तमे) सगाइरियपदं चत्ता णियासणे सगसिस्सं पदिट्ठय णसीरावादे (राजट्ठाणे) आइरियपदेण पदिट्ठिदो।

दिक्खाकालादो पण्णासवासेसु समणसदगं भावणासदगं णिरंजणसदगं परीसहजयसदगं सुणीदिसदग चेदि चेंदण्णचंदोदओ धीवरोदयचंपूमहाकव्वं चेदि संकियभासाए, थुदिसदगं सव्वोदयसदगं पुण्णोदयसदगं सुज्जोदयसदगं दोहादोहणसदगं चेदि रट्ठभासाए रचिदं। सगरचियसंकियसदगाणां पज्जाणुवादेण सह इट्ठोवदेसो समणसुत्तं, समयसारकलसा (णिजामियपाण) दव्वसंगहो, अट्ठपाहुडं, णियमसारो, वारसाणुवेक्खा, सयंभूथुदी, देवागमथोत्तं, पत्तकेसरिथोत्तं, समाहितंतं, पंचत्थिकायो, जोगसारो, पवयणसारो, रयणकरण्डसावयायारं (रयण-मंजूसा), समयसारो, अप्पाणुसासणं (गुणोदओ), सरूवसंबोहणं, भत्तिपाढो, कल्लाणमंदिरथोत्तं, एगीभावथोत्तं, गोम्मटेसथुदी इच्चेवमादिआगमगंथाणां पज्जाणुवादो रट्ठभासाए कदो।

हिंदीसाहित्ते बहुचच्चिद कालजयी 'मूकमाटी' महाकव्वस्स रयणा सव्वजगविक्खादा अत्थि। अणेय-

---

आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के पट्ट पर आचार्यपट्ट के प्रदान की विधि से आचार्य श्री विद्यासागर शोभायमान हैं।

जिनकी देह का जन्म कर्नाटक प्रदेश में बेलगाँव जिले के सदलगा ग्राम में विक्रम संवत् २००३ में अश्विन मास के शुक्ल पक्ष में पूर्णिमा को तदनुसार दिनांक १० अक्टूबर १९४६ ई० में गुरुवार को रात्रि में मल्लप्पा पिता तथा श्रीमंति माता के गर्भ से अष्टगे कुल में हुआ।

राजस्थान प्रदेश के जयपुर नगर के खानियां क्षेत्र में विराजमान आचार्य देशभूषणजी के द्वारा जिन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया। फिर मुनि ज्ञानसागर जी से विक्रम संवत्सर २०२५ में आषाढ़ शुक्ला पंचमी के दिन तदनुसार ३० जुन १९६८ ई० शनिवार को राजस्थान प्रदेश के अजमेर नगर में मुनि दीक्षा से दीक्षित हुए। तदनन्तर विक्रम संवत्सर २०२९ मगशिर मास के कृष्ण पक्ष की द्वितीया तदनुसार २२ नवम्बर १९७२ ई० में स्वआचार्य पद को छोड़कर अपने आसन पर अपने शिष्य को प्रतिष्ठित करके नसीराबाद राजस्थान में आप आचार्य पद से प्रतिष्ठित हुए।

दीक्षाकाल से लेकर ५० वर्षों में श्रमणशतक, भावनाशतक, निरंजनशतक, परीषहजयशतक, सुनीतिशतक, चैतन्यचंद्रोदय, धीवरोदयचम्पू महाकाव्य इत्यादि ग्रन्थ संस्कृत भाषा में तथा स्तुतिशतक, सर्वोदयशतक, पुण्योदयशतक, सूर्योदयशतक, दोहादोहनशतक इत्यादि राष्ट्रभाषा हिन्दी में रचनाएँ की हैं। स्वरचित संस्कृत शतकों के पद्यानुवाद के साथ इष्टोपदेश, समणसुत्तं, समयसारकलश (निजामृतपान), द्रव्यसंग्रह, अष्टपाहुड, नियमसार, बारसाणुवेक्खा, स्वयंभूस्तोत्र, देवागमस्तोत्र, पात्रकेसरीस्तोत्र, समाधितंत्र, पंचास्तिकाय, योगसार, प्रवचनसार, रत्नकरण्डकश्रावकाचार (रयणमंजूषा), समयसार, आत्मानुशासन (गुणोदय), स्वरूपसंबोधन, भक्तिपाठ, कल्याणमंदिरस्तोत्र, एकीभावस्तोत्र, गोम्मटेशस्तुति इत्यादि आगमग्रन्थों का अनुवाद राष्ट्रभाषा हिन्दी में किया है।

हिन्दी साहित्य में बहुचर्चित, कालजयी कृति मूकमाटी महाकाव्य की रचना सर्व जगत् में विख्यात है। अनेक

फुडकव्वरयणा हिंदी-कण्णाट-बंगला-संकिय-पागद-आंग्लभासाए वि बहुभासाविदण्हुगुरुदेवेण कदा।

वीसाहियसदं मुणिदिक्खाए अट्ठपण्णास एलगदिक्खाए चउसट्ठिखुल्लयदिक्खाए बाहत्तरिअहियसदं अज्जिगादिक्खाए तिण्णि खुल्लियदिक्खाए सहस्सा बंभचेरवदधारयसावयसावियाओ दिक्खिदा ति सिससपरिवारो।

चिरं जिणसासणस्स पहावणट्ठं सिद्धोदय-तित्थखेत्तं णेमावरे (मज्झपदेसे) सव्वोदयतित्थखेत्तं अमरकण्डगे (मज्झपदेसे) कुण्डलपुरतित्थखेत्ते बड़ेबाबामंदिरस्स जिण्णोद्धारो (दमोहजणवदे मज्झपदेसे) 'मढ़ियाजी' तित्थखेत्तं जबलपुरे (मज्झपदेसे) चंदगिरितित्थखेत्तं (छत्तीसगढ़े) सीयलधामतित्थं विदिसाए (मज्झपदेसे) रामटेकतित्थखेत्तं (महारट्ठे) बीणावारहा तित्थखेत्तं सागरे (मज्झपदेसे) पुण्णोदय-तित्थखेत्तं (हरियाणापदेसे) इच्चेवमादितित्थाणि गुरुदेवस्स मग्गदंसणे णिम्मिदाणि।

सव्वजीवाणं रोगमुत्तीए सह सुद्धोसहलाहो वि हवे त्ति भावणाए 'भग्गोदयतित्थखेत्तं' सागरे (मज्झपदेसे) ठवंतो, णारीसंकारसिक्खापवड्ढणुद्देसेण पडिहाट्ठलीणाणोदयविज्जापीठं जबलपुरे (मज्झपदेसे) डोंगरगढ-दि्ठदचंदिगिरिट्ठाणे (छत्तीसगढे) रामटेगे (महारट्ठे) इच्चादिट्ठाणेसु ठवंतो, देसकल्लाणभावणाए पसासणिय-पसिक्खणसंठाणं जबलपुरे (मज्झपदेसे) ठवंतो 'धम्मो दया विसुद्धो' त्ति सुत्ताणुसारेण सयाहियं दयोदय-गोसालाणिम्माणपेरगो णियपरकल्लाणपरो सव्वजणपूजिदो जादो।

अणेयगुणगंभीरो विज्जासायरसूरिगुरू जयउ।
देसे हरिसो जादो सुवण्णिमदिक्खुच्छवे जस्स॥

॥ इति शुभं॥

स्फुट काव्य रचनाएँ हिन्दी, कर्नाटक, बंगला, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी भाषा में भी बहुभाषाविद् गुरुदेव ने की हैं।

१२० मुनि दीक्षा, ५८ ऐलक दीक्षा, ६४ क्षुल्लक दीक्षा, १७२ आर्यिका दीक्षा, ३ क्षुल्लिका दीक्षा और हजारों ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले श्रावक-श्रावकाएँ दीक्षित हुए हैं, यह आपका शिष्य परिवार है।

चिरकाल तक जिनशासन की प्रभावना के लिए सिद्धोदय तीर्थक्षेत्र नेमावर मध्यप्रदेश में, सर्वोदय तीर्थक्षेत्र अमरकंटक मध्यप्रदेश में, कुण्डलपुर तीर्थक्षेत्र बड़ेबाबा मंदिर का जीर्णोद्धार दमोह मध्यप्रदेश में, मढ़िया तीर्थक्षेत्र जबलपुर मध्यप्रदेश में, चंद्रगिरि तीर्थक्षेत्र डोंगरगढ़ छत्तीसगढ़, शीतलधाम तीर्थ विदिशा मध्यप्रदेश, रामटेक तीर्थक्षेत्र नागपुर महाराष्ट्र तथा बीनाबारा तीर्थक्षेत्र सागर मध्यप्रदेश में, पुण्योदय तीर्थक्षेत्र हरियाणा में इत्यादि तीर्थ गुरुदेव के मार्गदर्शन में निर्मित हुए हैं।

सभी जीवों को रोगमुक्ति के साथ शुद्ध औषधि का भी लाभ हो इस भावना से भाग्योदयतीर्थ सागर मध्यप्रदेश में स्थापित हुआ है। नारी संस्कार की शिक्षा वृद्धि वृद्धिंगत इस उद्देश्य से प्रतिभास्थली ज्ञानोदय विद्यापीठ जबलपुर मध्यप्रदेश में, डोंगरगढ़ स्थित चंद्रगिरि छत्तीसगढ़ में, रामटेक महाराष्ट्र में इत्यादि स्थानों पर स्थापित है। देश की कल्याण की भावना से प्रशासनिक प्रशिक्षण संस्थान जबलपुर मध्यप्रदेश में स्थापित हुआ। 'धर्म दया से विशुद्ध है' इस सूत्र के अनुसार शताधिक दयोदयगौशाला के निर्माण के प्रेरक, निज और पर कल्याण में तत्पर आप सर्वजन पूजित हुए हैं।

जिनके स्वर्णिम दीक्षा उत्सव पर देश में हर्ष व्याप्त है ऐसे अनेक गुणों से गंभीर श्रीविद्यासागर आचार्य गुरुदेव जयवंत हों।

॥ इति शुभ॥